पथिक

[खण्ड काव्य]

रामनरेश त्रिपाठी

हिन्दी - मन्दिर

सुलतानपुर

(उ० प्र०)

प्रकाशक
हिन्दी-मन्दिर
आनन्द-निकेतन
सुलतानपुर (उ० प्र०)

छियालीसवाँ संस्करण, १९६७

मूल्य—एक रुपया पचीस पैसे

मुद्रक
वसुदेव
रामा आर्ट प्रिंटर्स,
इलाहाबाद

मधुर स्मृति

[१]

श्रीयुत केशवदेव नेवटिया,

बम्बई।

प्रिय मित्र,

आपके साथ श्रीरामेश्वरम् की यात्रा में पर्वत, वन नदी और समुद्र तट का प्राकृतिक सौन्दर्य देखकर मेरे मन को जो सुख प्राप्त हुआ है उसकी कुछ झलक मैंने इस 'पथिक' के पद्यों में लाने की चेष्टा की है। इसका पहला पद्य श्रीरामेश्वरम् में, समुद्र तट पर, वैशाख कृष्ण ६, संवत् १९७७, शुक्रवार को प्रातः काल चार बजे रचा गया। आपके साथ की हुई इस मनोहर यात्रा की मधुर स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए, मैं अपनी इस अमूल्य प्रेम की वस्तु को आनन्दपूर्वक आपके हाथों में समर्पित करता हूँ।

प्रयाग
श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी
१९७७

रामनरेश त्रिपाठी

[२]

मेरे परम स्नेह-पात्र श्री रामकुमार नेवटिया का नाम भी 'पथिक' में है, और वह प्रत्येक सर्ग के प्रथम अक्षर जोड़ने से निकलता है। खेद है, पौष बदी १०, सं० २००७ (२-१-५१) को उनका देहान्त हो गया अब यह 'पथिक' उनका भी एक स्मारक है।

रामनरेश त्रिपाठी

मूल कथा

पहला सर्ग

एक दिन प्रकृति के सब विभवों से अधिक सुन्दर, सरल और बहुत प्रसन्न, राग-रूपी रथ पर आरूढ़, सूर्य के लालिमा-रूपी मार्ग पर चलकर, लहरों से बारम्बार चुम्बन किये गये समुद्र तट पर प्रभात धीरे-धीरे पूर्व दिशा से आकर सुख की तरह मिला।

प्रभातकाल में, सामुद्रिक वायु के सेवन की इच्छा से, समुद्र तट पर आकर एक पथिक प्रकृति की मनोहर छटा देख रहा था। वह प्राकृतिक सौन्दर्य के देखने में ऐसा तन्मय हो रहा था कि उसे अपने तन-मन की सुधि नहीं थी।

उसी समय एक सुन्दरी रमणी वहाँ जा उपस्थित हुई। वह ऐसी सुन्दरी थी, जैसे स्वर्ग की एक किरण या कवि का स्वप्न या विश्व का आश्चर्य !

वह प्रसन्न नहीं थी। उसके हृदय-रूपी पुष्प में विषाद का कोई कीड़ा आ घुसा था। उपवन में संध्या के आगमन से जैसी उदासीनता छा जाती है, वैसी ही उसके मुख पर दुःख की छाया वर्त्तमान थी।

उसने पथिक को पहचाना। वही उसका पति था। वह अत्यन्त हर्षित हुई। उसने पहले ईश्वर को धन्यवाद दिया। फिर श्रद्धा से दोनों हाथ जोड़कर और अपने प्रियतम के चरणों पर सिर रखकर. उसने उसकी धूलि सिर पर लगा ली और फिर वह उसे एकटक देखने लगी।

पथिक अपने ध्यान में ऐसा निमग्न था कि उसे इन बातों का कुछ पता ही न था। उसका मन प्रेम के भवन का सौन्दर्य देखता-देखता इतनी दूर चला गया था कि रमणी के पैरों की मधुर ध्वनि वहाँ तक पहुँच ही न सकी और थककर बीच ही से लौट आयी।

पथिक की प्रेम-निद्रा नहीं टूटी। तब कोकिल-कंठी रमणी ने एक मनोहर गीत गाया। उस गीत से पथिक की निद्रा भंग हुई। उसने आँखें खोल दीं। सामने रमणी को देखकर वह प्रकृति के आनन्द की उन्मत्तता में प्रलाप करने लगा।

उसके प्रेम-प्रलाप को सुनकर रमणी के रतनारे नेत्रों में आँसू आ गया। उसने हाथ जोड़ कर बहुत विनय की और पथिक से घर लौट चलने को कहा। उसने यह भी कहा कि जब तुम प्राकृतिक सौन्दर्य पर विमुग्ध होकर घर छोड़कर वन में चले आये तब यह समाचार पाते ही मैं भी तुम्हारी खोज में तत्काल घर से निकल पड़ी। तुम्हारा छोटा बालक अपनी दोनों भुजाओं से मुझे पकड़कर खड़ा हो गया। उसे छुड़ाकर केवल तुम्हारे लिए मैं वन में चली आयी।

मैंने कितने ही वन, पर्वत, नदी-नाले छान डाले, पर तुम नहीं मिले। आज समुद्र के जल में शरीर त्यागकर असह्य विरह-वेदना से छुटकारा पाने आयी थी। इतने में तुम्हारा दर्शन हुआ! अब मेरी प्रार्थना सुनकर कृपा करके घर लौट चलो। नहीं तो इस शरीर से यह दासी फिर नहीं मिलेगी।

पथिक ने मनुष्य-जगत् के दुखों का वर्णन करके उससे घोर घृणा प्रकट की। उसने तुलना करके दिखाया कि मनुष्य-जगत् से वन कहीं बढ़ कर सुखदायक है। वह स्त्री को वहीं समुद्र-तट पर छोड़कर वन में जाकर विलुप्त हो गया। रमणी मर्माहत होकर वहीं खड़ी रह गयी।

दूसरा सर्ग

जहाँ पथिक और उसकी स्त्री की भेंट हुई थी उसके पास ही एक साधु भी बैठे थे। उन्होंने दोनों की बातें ध्यान से सुनीं। जब पथिक जाने लगा, तब उन्होंने आगे बढ़कर उससे भेंट की और उसी स्थान पर आधी रात के समय फिर मिलने का वचन लिया।

पथिक आधी रात के समय साधु से समुद्र-तट के उसी स्थान पर

मिला, साधु ने उसे कर्ममय जगत् का गूढ़ रहस्य समझाया और कर्म ही को मनुष्य-जीवन का प्रधान लक्ष्य बताया । उन्होंने पथिक को उसके विचारों की भूल बताकर उसे फिर मनुष्य-जगत् में जाकर कर्म करने की सम्मति दी । उन्होंने कहा—मनुष्य के पास पौरुष, साहस, सत्य, न्याय, श्रद्धा, करुणा, उदारता, सुशीलता, सज्जनता, धर्म और क्षमा आदि गुण ईश्वर की धरोहर हैं । उन्हें आवश्यकता पड़ने पर संसार में वितरण के लिए ही ईश्वर ने मनुष्य के पास रख छोड़ा है । तुम इस धरोहर को चुराकर मनुष्य-समाज से दूर यहाँ वन में भाग आये हो । तुमने ईश्वर के साथ यह विश्वासघात किया है । तुम मानव-समाज में जाकर रहो और जहाँ तुम्हारे जिस गुण की आवश्यकता हो, वहाँ उसे व्यय करो ।

साधु उपदेश देकर, उठकर चले गये ।

तीसरा सर्ग

पथिक ध्यान में ऐसा निमग्न था कि उसे साधु का उठकर चला जाना विदित ही न हुआ । साधु की सच्ची बातें उसके मन में शीघ्र ही अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हो आयीं । उसने सिर उठाया और एक गहरी साँस लेकर अपनी भूल का अनुभव किया । फिर वह उठ खड़ा हुआ । उसने स्वदेश की ओर सिर झुकाकर, श्रद्धापूर्वक उसे प्रणाम किया और उसकी सेवा में जीवन-दान करने का प्रण किया ।

देश की दशा से परिचित होने के लिए वह देश के भिन्न-भिन्न भागों में एक वर्ष तक भ्रमण करता रहा । देश का प्राकृतिक सौन्दर्य देखकर उसे आश्चर्य हुआ कि ऐसे सुन्दर देश में रहकर भी उसके निवासी इतने मलिन मन क्यों रहते हैं ।

फिर उसने समाज में प्रवेश करके वहाँ की दशा देखी, तब उसे बड़ी करुणा आयी । उसे करोड़ों मनुष्य ऐसे मिले, जिन्हें सन्ध्या तक, भरपेट भोजन नहीं मिलता । कुछ ऐसे मिले, जो निराहार ही सो जाते हैं ।

कृषकगण घोर परिश्रम करके पृथ्वी से अन्न उत्पन्न करते हैं, पर वे स्वयं दाने-दाने को तरसते हैं। वे चकित रहते हैं कि उनके मुख से उनका ग्रास कौन छीन लेता है। समाज में फूट, दम्भ, विश्वासघात और छल का साम्राज्य है। अनीति और अधर्माचरण से लोग कुछ भी भयभीत नहीं होते। सत्य, धैर्य, विश्वास, सज्जनता और पौरुष आदि गुण पैसे-पैसे पर बिक रहे हैं। समाज की इस दुर्दशा का मूल कारण दरिद्रता है।

समाज की दशा को देखकर पथिक ने समझा कि यह सब राजा के दोष से हो रहा है। राजा प्रजा की उन्नति नहीं चाहता। वह चाहता है कि प्रजा चरित्रहीन हो जाय, उसकी आत्मा पापों से ढँकी रहे, तो वह कभी राजा के सम्मुख सिर उठाने का साहस न करेगी, राजदण्ड से वह सदा डरती रहेगी। राजा ने कुछ शिक्षा भी प्रचलित कर रखी है; किन्तु उतनी ही, जितने से राज-तंत्र सुगमता से चलता रहे। राजा बड़ा निरंकुश है वह अपने स्वार्थ ही को नीति और अपने वचन ही को राजनियम मानता है।

प्रजा में कुछ ऐसे सद्विचारवाले व्यक्ति भी हैं, जिनके हृदय में देश-प्रेम और समाज-सेवा का भाव है। वे देश और जाति के कल्याण के लिए मरने से नहीं डरते। राजा का भय छोड़कर प्रजा में निर्भयता, साहस और सत्यनिष्ठा का भाव जाग्रत करने का प्रयत्न किया करते हैं। पर दुःख निवृत्ति के जो उपाय वे बतलाते हैं उनका वे स्वयं अनुसरण भी करते तो सौ वर्षों का भविष्य खिचकर एक ही दिन में आ जाता।

उनमें कुछ ऐसे व्यक्ति भी हैं, जिन्होंने देश-भक्ति को जीविका का एक साधन बना लिया है। कुछ ऐसे हैं, जो केवल प्रशंसा चाहते हैं। कुछ ऐसे हैं, जो राजा के द्वेष-वश प्रजा का पक्ष ग्रहण करते हैं और कुछ ऐसे हैं, जो राजा को डरा-धमकाकर अपना कोई प्रयोजन सिद्ध करने के लिए प्रजा का पक्ष लेते हैं और काम निकल जाने पर या तो राजा से मिल जाते हैं या निरपेक्ष हो जाते हैं।

देश की यह दशा देखकर पथिक देश-सेवा में निश्चित मन और अपूर्व उमंग से तत्पर हुआ। दीन जनों का सदा उसे स्मरण रहता था इसीलिए वह भी दीनों की भाँति जीवन-निर्वाह करने लगा। न उसे किसी से घृणा थी, न उसे किसी से द्वेष था। वह प्रेम-मूर्ति, आनन्दरूप और पृथ्वी का भूषण था।

उसने देश में फिर भ्रमण करके प्रजा के कष्टों की कथा संग्रह की। राजकर्मचारियों ने भाँति-भाँति के षड्यंत्र रचकर उसे कर्म-च्युत करना चाहा; पर उसके अदम्य उत्साह ने मार्ग की बाधाएँ हटा दीं।

पथिक की सहिष्णुता, उसका देशानुराग देखकर अत्याचारों से अति पीड़ित और त्रस्त प्रजा के मन में पुण्य का उदय हुआ। उसके मन में बलवती आशा जाग्रत हुई। उसने पथिक को अपना तन, मन, धन अर्पण किया। पथिक प्रजावर्ग के हृदय का केन्द्र हो गया। प्रजा ने समझा कि भगवान के सम्मुख परम्परा से की गयी उनकी प्रार्थनाओं के फलस्वरूप ही पथिक उन्हें मिला है।

एक दिन पथिक राजसभा में गया। राजा से उसने प्रजा की सब दुर्दशा का वर्णन करके सुव्यवस्था और शान्ति की याचना की। शासन में पथिक की टीका-टिप्पणियाँ सुनकर राजा को असह्य क्रोध उत्पन्न हुआ। उसने पथिक को राजसभा से निकलवा दिया।

पथिक को अपने प्रयत्न में निष्फलता होने के कारण बड़ी चिन्ता हुई, पर उसका हृदय विचलित न हुआ। जो लोक-सेवा करने चला है, वह मानापमान और निन्दा-स्तुति से मार्ग-भ्रष्ट कैसे हो सकता है?

पथिक राजा से कई बार मिला और उसने सुशासन करने की सम्मति दी, पर राजा ने उसके उपदेशों पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया।

प्रजा का कष्ट-निवारण अनिवार्य समझकर उसने अन्तिम साधन का सहारा लिया। उसने नगर-नगर, गाँव-गाँव, घर-घर, घूमकर थोड़े ही समय में प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में यह भावना भर दी कि प्रजा राजा से सब प्रकार सम्बन्ध परित्याग कर दे। प्रजा पर जो अत्याचार राजा कर

रहा है, वह प्रजा ही की सहायता से कर रहा है। प्रजा यदि राजा का साथ छोड़ दे, तो राजा अकेला क्या कर सकता है ? अन्यायी, अधर्मी और अत्याचारी का साथ देना पाप है, जब तक प्रजा इस पाप से निवृत्त नहीं होती, तब तक उसका कष्ट दूर नहीं हो सकता।

चौथा सर्ग

समुद्र-तट पर जब पथिक अपनी स्त्री को छोड़कर चला गया; तब जिस साधु ने मार्ग में मिलकर उसे आधी रात के समय उसी स्थान पर आकर मिलने के लिए आमन्त्रित किया था, उसी ने स्त्री के पास आकर उसे यह सम्मति दी कि तुम घर जाओ, पथिक तुमको फिर मिलेंगे।

साधु का आश्वासन पाकर स्त्री घर लौट गयी। वह प्रतिदिन सबेरे से संध्या तक खड़ी-खड़ी पथिक का मार्ग देखा करती थी। न उसे खाने की सुध थी, न पीने की। नींद उसकी आँखों से मानों भाग ही गयी थी। पथिक के वियोग में सूखकर वह काँटा हो गयी थी। दर्शन की लालसा से केवल आँखों ने उसे जीवित कर रखा था। अपने बच्चे के पालन-पोषण में भी वह कुछ ध्यान नहीं देती थी। एक प्रकार से वह उसे भूल ही गयी थी। रात-दिन अपने प्राणनाथ का नाम लेकर वह बिसूरती रहती थी।

एक दिन अचानक कुछ यात्री उस गाँव में आये, जिसमें पथिक की स्त्री रहती थी। वे सुस्ताने और जल पीने के लिए एक कुएँ पर बैठ गये। गाँव के कुछ लोग वहाँ उपस्थित थे। उनसे वे अपने मन की व्यथा कहने लगे।

उन्होंने कहा—हमारे नेता पथिक को राजा ने पकड़ लिया है और उन पर राजद्रोह का अभियोग लगाकर उसने उन्हें मृत्यु-दण्ड दिया है। कल वे राजाज्ञा से मारे जायेंगे। हम लोग उनके अन्तिम दर्शन के लिए राजधानी को जाते हैं। हमारे कल्याण के लिए पथिक ने प्राण दिये, वे पुण्यात्मा हैं, उनके दर्शन से हमारे पाप दूर होंगे। यह कहकर वे यात्री रोते-गाते राजधानी की ओर चले गये।

यह समाचार विद्युत् की भाँति गाँव में घर-घर फैल गया। पथिक की स्त्री ने जब यह समाचार सुना, तब पथिक के दर्शनों की उत्कंठा से वह अत्यन्त आह्लादित हुई। बच्चे को साथ लेकर वह राजपुरी की ओर इस वेग से चली, जैसे प्यासा प्राणी जल की ओर जाता है। गाँव के स्त्री-पुरुष, बालक, वृद्ध और युवा पथिक के दर्शनों की लालसा से दौड़ पड़े।

कारागार के सामने लोहे की शृङ्खला से बँधा हुआ पथिक बैठा था। उसका मुख-मण्डल शान्ति, आनन्द और लोक-कल्याण के लिए जीवनोत्सर्ग के प्रकाश की आभा से उद्दीप्त हो रहा था। उसके सामने असंख्यों नर-नारी, जिसमें धनी-निर्धन, किसान-श्रमजीवी और साधु संन्यासी सब श्रेणियों के लोग थे, दुःख के भार से डूबे हुये हृदयों को थामे खड़े थे। सब पथिक को टकटकी लगाकर देख रहे थे। पथिक के सामने हलाहल विष से भरा कटोरा रखा हुआ था, जिसे राजा की आज्ञा से पीकर वह प्राण परित्याग करेगा।

इसी अवसर पर भीड़ को चीरकर, वायु-वेग से आकर, पथिक की स्त्री ने पथिक के सामने का विष-पात्र उठाकर पी लिया। लोग हाहाकार करने लगे। स्त्री ने पथिक के चरणों की धूलि सिर पर चढ़ाकर कहा—आज प्राणनाथ के सम्मुख मरने में मुझे जैसा सुख मिल रहा है वैसा सुख मुझे कभी न मिलता।

फिर उसने बड़े प्रेम से पथिक से कहा—हे गृहत्याग करनेवाले प्रकृति के प्रेमी प्राणनाथ! मैं तुम्हारी सेवा नहीं कर सकी, मेरे अपराध को क्षमा करना।

विष के प्रभाव से वह इसके आगे कुछ न कह सकी। उसने स्वामी का मुख देखते हुये क्षण भर में प्राण-त्याग किया।

स्त्री की बातें सुनकर पथिक की आँखों से आँसू की दो बूंदें चू पड़ीं। दर्शक-गण पथिक की स्त्री का आत्मत्याग देखकर अवाक् रह गये। पथिक का पुत्र भी माता के पीछे-पीछे भीड़ में से निकल आया था। वह प्रबोध

बालक था । उसे यह पता न था कि उसकी माता संसार की यातनाओं से मुक्त हो गयी । उसने माँ के पास आकर कहा—माँ, घर चल, मुझे भूख लगी है; मैं अकेला कैसे जाऊँ ?

बालक की भोली बात सुनकर उपस्थित जनता के हृदय में करुणा का समुद्र लहरें मारने लगा । राजा के भय का कुछ विचार न करके एक सन्तानवती स्त्री ने आगे बढ़कर बच्चे को गोद में उठा लिया और उसे वह बार-बार चूमने लगी ।

उसी समय राजा का दूत भीड़ को चीरता-फाड़ता वहाँ उपस्थित हुआ । उसने जनता को सम्बोधित करके पथिक का अपराध और राजा की आज्ञा उच्च स्वर से पढ़ सुनायी । उसने कहा—राजा ने पथिक को अपनी प्रजा समझकर दया-पूर्वक विष पिलाकर मार डालने की आज्ञा दी थी, जिससे इसे कष्ट न हो; पर इसके अपराध का समाचार पाकर इसकी पतिव्रता स्त्री अपने स्वामी के पाप-कर्म से बहुत दुःखी हुई और उसने लोक-लज्जावश विष पीकर प्राण-त्याग किया । उसकी मृत्यु का कारण यही पापी पथिक है । इस घटना से राजा बहुत क्रुद्ध हुए हैं । उन्होंने इसके अंग-अंग काटकर, तड़पा-तड़पाकर, मार डालने की आज्ञा दी है । यदि यह अपराध स्वीकार करके क्षमा प्रार्थना करे, तो राजा इसके पुत्र के प्राण-दान कर देंगे । नहीं तो इसी के अपराध से उसका भी शिरोच्छेद होगा, जिससे यह विषवृक्ष समूल नष्ट हो जाय ।

राजदूत यह कहकर उत्तर की आकांक्षा से पथिक की ओर देखने लगा । पथिक ने खड़े होकर कहा—मैंने जीवन भर राजा और प्रजा दोनों का हित चाहा है । मैंने कोई अपराध नहीं किया । आत्मा मुझे निर्दोष बताती है । मैं किस बात की क्षमा-प्रार्थना करूँ ?

पथिक का उत्तर सुनकर राजदूत ने अपने पास खड़े हुये बधिकों से कहा—पथिक के पुत्र का सिर काट लो ।

एक बधिक ने झटपट स्त्री की गोद से बालक को खींच लिया और तलवार से उसका सिर काट डाला । स्त्रियाँ यह क्रूर कर्म देखकर [illegible]

की वेदना न सह सकीं और मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं। सब लोग क्षोभ और भय से काँप उठे।

राजा का यह नृशंस कार्य युवकों को असह्य हो गया। भीड़ को हटाते हुये और यह कहते हुये वे आगे बढ़े कि इस अन्यायी राजा का अंत करो; पृथ्वी पर से यह पाप उठा दो।

युवकों का आवेश देखकर पथिक उठा। उसने हाथ उठाकर कहा—"हे भाइयो ! क्षण भर ठहर जाओ। मेरी बात सुन लो। क्रोध की दशा में तुम स्वयं कोई अपराध न कर डालो। राजदूत और बधिक ने राजा की आज्ञा का पालन किया है, इनका कुछ अपराध नहीं है। राजा की आज्ञा का पालन करना इनका धर्म है; इनकी स्वामिभक्ति का आदर करो।

"संसार में मेरा कोई अपराधी नहीं है। मेरे मन में प्रतिहिंसा का भाव नहीं है। पुत्र मेरा अंश था। आज उसके द्वारा मेरे सत्य की परीक्षा हुई। उसका शरीर धारण करना सफल हुआ। उसके लिए क्रोध मत करो। यदि मेरे शरीर-त्याग करने से राजा के मन का भय मिट जाय तो इससे बढ़कर इस शरीर का सदुपयोग मैं और क्या कर सकूंगा ? रक्त-पात करना पशुता है, मन की कायरता है; शत्रु को चरित्र-बल से जीतने ही में सज्जन की शोभा है। मैं अपने दुःख का स्वयं कारण हूँ, मेरे लिए तुम्हारे मन में विक्षोभ क्यों होता है ?

'मैंने अपना कर्तव्यपालन किया है। प्रत्येक देशवासी का कर्तव्य है कि वह अपने देश की सेवा के लिए जीवन-दान दे। इसे तुम अपना स्वार्थ क्यों समझते हो ? क्रोध तुम्हारा प्रबल शत्रु है। तुम्हारे ही घर में रहता है। उसे तुम जीत लोगे तो संसार को तुम जीत सकते हो।

'आत्मा की सम्मति से चलो। उसका अपमान न करो। मेरा यह सन्देश देश में सबको सुना देना। अब अन्त में मेरा एक अनुरोध है, उसे भूल न जाना। वह यह है कि आज का दृश्य देखकर जो क्षोभ उत्पन्न हुआ है, उसका बदला मेरे देश के निवासी किसी से न लें।

पथिक इतना कह चुका था कि वही साधु जो पथिक को समुद्र-तट पर मिले थे, तत्काल भीड़ से आगे बढ़ आये और आनन्द-विह्वल होकर आँखों में आँसू भरकर कहने लगे—पुत्र ! तुम्हारा जीवन धन्य है ! तुमने जन्म धारण कर जगत को पवित्र किया है। तुम्हारे चरित्र को स्मरण करके देश दुःखों से पार हो जायगा। तुम्हारा पवित्र नाम लेकर संसार पाप से मुक्त हो जायगा। बेटा, मेरी इच्छा पूर्ण हुई। अब जीवन की आवश्यकता नहीं; यह बूंद अब महासमुद्र में मिल जायगी।

साधु यह कहकर बैठ गये और समाधि लगाकर स्वर्गगामी हुए।

पथिक को गुरु के दर्शन से बड़ा ही आनन्द प्राप्त हुआ। क्षण भर पहले उसके मन में गुरु के दर्शन की अभिलाषा उत्पन्न हुई थी, भगवान् ने उसकी अन्तिम इच्छा तत्काल पूरी कर दी।

दर्शक यह सब दृश्य देखते हुये चित्र की भाँति चुपचाप खड़े थे। उस समय राजा के कुछ सैनिक एक बधिक को आगे लेकर वहाँ आ उपस्थित हुये। दर्शकों को यह दृश्य देखने का साहस नहीं हुआ। पथिक के अनुरोध को ध्यान में रखकर, क्रोध को सँभालते हुये, वे वहाँ से चले गये।

पथिक का मन प्रसन्न था। उसके मुख पर म्लानता का कहीं नाम न था। सैनिक और बधिक उसकी शान्ति और निर्भयता देखकर आश्चर्य चकित हो गये।

बधिकों ने अपना काम किया। पथिक, साधु, स्त्री और बालक की मृत्यु का समाचार सुनकर राजा ने कहा—अच्छा हुआ, सारी आपदा एक साथ टल गयी।

पाँचवाँ सर्ग

पथिक की हत्या के पश्चात् देश-भर में एक अद्भुत प्रकार की शान्ति छा गयी। पथिक की मृत्यु से लोगों को इतना अधिक कष्ट हुआ कि वे कष्ट का मूल कारण ही भूल गये। वे क्रोध को एक प्रकार से भूल ही गये। उनमें ऊँच-नीच का भाव भी नष्ट हो गया। न कोई

किसी से बोलता था, न किसी सभा-समाज में सम्मिलित होता था। सबके हृदय में एक विचित्र पीड़ा छिपी थी, जिसकी वेदना से वे मूकवत् हो गये थे।

राजा को देश की यह उदासीनता असह्य लगने लगी। अत्याचारी व्यक्ति अपने विनाश का प्रयत्न स्वयं करता रहता है। राजा ने प्रजा का मन टटोलने के उद्देश्य से यह आज्ञा उद्घोषित की कि पथिक का घर भी नष्ट कर डाला जाय, जिससे उसका चिह्न हमारे राज्य में न रह जाय और पथिक के जो अनुयायी हैं, वे भी पकड़ कर हमारे सामने उपस्थित किये जाएँ।

राजा की आज्ञा में पथिक का नाम सुनकर प्रजा को अपने दुःख का स्मरण हो आया। वह जाग-सी पड़ी, देश के वृद्ध पुरुष और वृद्धा स्त्रियाँ, युवक और युवतियाँ, बालक और बालिकाएँ, विद्वान् और मूढ़, किसान और मजदूर पथिक का प्यारा नाम ले-लेकर रो पड़े। जब आँसुओं के साथ बहकर उनके हृदय का दुःख कुछ कम हुआ, तब वे कर्त्तव्य निश्चित करने लगे।

राजा के कर्मचारी प्रजा की यह गति देखकर पहले ही से भयभीत थे। वे राजा का साथ छोड़-छोड़कर भाग गये। प्रजा के हृदय में राजा से जो विरक्ति जाग्रत हुई, उसके प्रभाव में राजा के सैनिक और सब सेवक राजा को छोड़कर अपने घर चले गये। राजा राजमहल में अकेला रह गया।

प्रजा ने एक स्वर से राजा को देश से बाहर निकल जाने की आज्ञा दी; और मार्ग में उसकी जीवन-रक्षा का प्रबन्ध करके उसने उसको देश की सीमा से बाहर भेज दिया। देश में प्रजा के प्रतिनिधियों का शासन स्थापित हुआ। स्वराज्य में प्रजा फलने-फूलने लगी। उसके दुर्गुण अपने आप घटने लगे। ज्ञान की ज्योति से प्रत्येक मानव-शरीर जगमगा उठा।

जिस स्थान पर पथिक, साधु, स्त्री, और बालक ने प्राण-त्याग किये

थे, प्रजा ने उसी स्थान पर एक बड़ा मन्दिर बनवाया। उसमें उन चारों वीरों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित की गयीं।

जिस दिन उनकी मृत्यु हुई थी, उसी दिन प्रतिवर्ष, वहाँ एक मेला लगा करता था, वह मेला उन चारों आत्म-त्यागियों के नाम से लगातार चार दिनों तक रहता था। मेले में देश के निकट और दूर, सब प्रान्तों के अधिवासी पैदल चलकर आया करते थे। वे पथिक को प्रणाम करते थे। उसका गुण-कीर्तन करके आँसू गिराते थे और अपना जीवन भी उसी प्रकार सँवारने की प्रतिज्ञा करके घर लौट जाते थे।

उस समय के कवियों ने पथिक के चरित्र पर कविताएं लिखी थीं। लोग उन कविताओं को गा-गाकर अपने जीवन का मार्ग स्थिर करते थे। शीतकाल में जब घर के बालक और स्त्री-पुरुष, निर्धूम अँगीठी के चारों ओर बैठ जाते, तब वृद्ध लोग बालकों को पथिक का वृत्तान्त सुनाया करते थे। बालक उसे बारम्बार सुनकर भी तृप्त नहीं होते थे और फिर कहने के लिए वे वृद्धों को बहुत तंग किया करते थे। स्त्रियाँ प्रातःकाल घर का काम-काज करती हुई पथिक की स्त्री के चरित्रों के गीत गा-गाकर अपने बच्चों को जगाया करती थीं। देश में शान्ति छा गई और सुख का राज्य हो गया। न कोई रोग रह गया न दरिद्रता।

इस तरह एक सच्चे और शुद्ध प्रेमी ने आत्म-शक्तिसाधन से एक देश को नरक के शासन से मुक्त कर दिया।

पथिक

पहला सर्ग

राग-रथी, रवि-राग-पथी अविराग-विनोद-बसेरा।
प्रकृति-भवन के सब विभवों से सुन्दर सरस सबेरा।
एक दिवस अति मुदित उदधि के वीचि-विचुम्बित तीरे।
सुख की भाँति मिला प्राची से आकर धीरे-धीरे ॥१॥

एक पथिक स्वच्छन्द समुद्र-समीरण का अनुरागी।
विश्व समान हृदय का स्वामी हर्ष-विमर्ष विरागी।
देख रहा था कौतूहल से अचल किये दृग-तारा।
विश्व-मंच पर प्रकृति-नटी का पट-परिवर्तन प्यारा ॥२॥

तिरती थीं आँखें असीम सुषमा-समुद्र के जल में।
किन्तु पथिक-मन था प्रविष्ट सौंदर्य-स्रोत तक तल में।
अंग हुए निश्चिन्त प्रेम की निद्रा को अपनाये।
पी आनन्द-सुधा-रस उसके रोम-रोम उठ आये ॥३॥

उसी समय कमनीय एक स्वर्गीय किरन-सी वामा।
कवि के स्वप्न समान, विश्व के विस्मय-सी अभिरामा।
सिन्धु-गोद में लय से पहले तरंगिता सरिता-सी।
आकर चकित हुई तट पर [illegible] [illegible] की प्यासी ॥४॥

घुसा विषाद-कीट था कोई उसके हृदय सुमन में ।
मुख ऊपर दुख की छाया थी सन्ध्या-सी उपवन में ।
प्रियतम को चिरकाल-विरहिणी रमणी ने पहचाना ।
परम प्रफुल्लित पुलकित हर्षित उसने अति सुख माना ॥५॥

अन्धे को दृग महारंक को विश्व-सम्पदा सारी ।
जेठ-दुपहरी में मरु-थल के तृषित पथिक को वारी ।
मिलने से जो सुख होता है आत्मरहस्य यती को ।
उससे बढ़ सुख मिला अचानक विरह-विदग्ध सती को ॥६॥

जो सुख पर पद-दलित देश को स्वाधिकार पाने से ।
जो सुख बुझती दीपशिखा में स्नेह-धार आने से ।
जो सुख होता है प्रवास-पश्चात् देख निज घर को ।
उससे अधिक हुआ सुख उसको पाकर निज प्रियवर को ॥७॥

धन्यवाद देकर कौतुक-प्रिय नट-नागर ईश्वर को ।
श्रद्धा, भक्ति, प्रमोद, प्रेम से जोड़ पाणि-पुष्कर को ।
प्रियतम के चरणों पर सिर रख धूलि पवित्र लगा ली ।
फिर प्रिय को अनिमेष निरखने लगी विमुग्ध मराली ॥८॥

बार-बार नख-शिख उसने हृदयेश्वर का अवलोका ।
जन्म सफल, गतिहीन परम गति प्राप्त किया नयनों का ।
यद्यपि थी सामने पथिक के खड़ी रूप की रेखा ।
पर उसकी आनन्द-विसुध आँखों ने उसे न देखा ॥९॥

पथिक दूर था मुदित निरखता प्रेम-निकेत-निकाई ।
रमणी की मृदु मधुर पद-ध्वनि पथ से थक फिर आई ।
तब कोकिल-कण्ठी प्रियतम-मन-मोहन-कला प्रवीणा ।

विरह-गीत से लगी जगाने बजा मंजु स्वर-वीणा ॥१०॥

गीत

कामना और नहीं कुछ मेरी
बहने दो प्रभु ! इन आँखों से जल की अविरल धार।
सदा सींचने दो जीवन के ताप तप्त सब द्वार।
दीर्घ श्वास यह कठिन यातना की उच्छ्वास-तरंग।
आने दो नित हृदय चीरकर दुख का छुटे न संग।
ध्वनित करे प्रतिपल भूतल को मेरा हाहाकार।
जिससे रहे दया के उर में जीवन का संचार।
कामना और नहीं कुछ मेरी ॥११॥

मिलन अन्त है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है।
विरह प्रेम की जाग्रत गति है और सुषुप्ति मिलन है।
विरह-गीत सुन जीवन पाकर प्रेम जगा अकुलाया।
पथिक-सुमन फिर पारिजात-शाखा-च्युत तन में आया ॥१२॥

पलकें हुईं गतिवती निकला विरहोच्छ्वास हृदय से।
फिर देखा रमणी को अपने हर्ष और विस्मय से।
बोला पथिक—प्रिये ! तुम आयी कैसे शुभ अवसर में।
मैं हूँ बसा प्रेम के घर में है वह मेरे घर में ॥१३॥

देखो प्रिये ! विशाल विश्व को आँख उठाकर देखो।
अनुभव करो हृदय से यह अनुपम सुषमाकर देखो।
यह सामने अथाह प्रेम का सागर लहराता है।
कूद पड़ूँ, तैरूँ इसमें, ऐसा जी में आता है ॥१४॥

प्रतिक्षण नूतन वेश बनाकर रंग-विरंग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद-माला।
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठ बीच में विचरूँ यही चाहता मन है ॥१५॥

रत्नाकर गर्जन करता है, मलयानिल बहता है।
हरदम यह हौसला हृदय में प्रिये! भरा रहता है।
इस विशाल, विस्तृत, महिमामय रत्नाकर के घर के—
कोने-कोने में लहरों पर बैठ फिरूँ जी भर के ॥१६॥

निकल रहा है जलनिधि-तल पर दिनकर बिम्ब अधूरा।
कमला के कंचन-मन्दिर का मानो कांत कँगूरा।
लाने को निज पुण्य-भूमि पर लक्ष्मी की असवारी।
रत्नाकर ने निर्मित कर दी स्वर्ण-सड़क अति प्यारी ॥१७॥

निर्भय, दृढ़, गम्भीर भाव से गरज रहा सागर है।
लहरों पर लहरों का आना सुन्दर, अति सुन्दर है।
कहो, यहाँ से बढ़कर सुख क्या पा सकता है प्राणी?
अनुभव करो हृदय से, हे अनुराग-भरी कल्याणी ॥१८॥

जब गँभीर तम अर्द्ध-निशा में जग को ढक लेता है।
अन्तरिक्ष की छत पर तारों को छिटका देता है।
सस्मित-वदन जगत का स्वामी मृदु गति से आता है।
तट पर खड़ा गगन-गंगा के मधुर गीत गाता है ॥१९॥

उससे ही विमुग्ध हो नभ में चन्द्र विहँस देता है।
वृक्ष विविध पत्तों पुष्पों से तन को सज लेता है।
पक्षी हर्ष सँभाल न सकते मुग्ध चहक उठते हैं।
फूल साँस लेकर सुख की सानन्द महँक उठते हैं ॥२०॥

वन, उपवन, गिरि, सानु, कुंज में, मेघ बरस पड़ते हैं।
मेरा आत्म-प्रलय होता है, नयन नीर झड़ते हैं।
पढ़ो लहर,तट,तृण,तरु,गिरि,नभ,किरन,जलद पर प्यारी।

लिखी हुई यह मधुर कहानी विश्व-विमोहनहारी ॥२१॥

कैसी मधुर मन हर उ ज्वल है यह प्रेम-कहानी।
जी में है अच्छर बन इसके बनूँ विश्व की बानी।
स्थिर, पवित्र, आनन्द-प्रवाहित, सदा शांत सुखकर है।
अहा! प्रेम का राज्य परम सुन्दर, अतिशय सुन्दर है ॥२२॥

सुनकर प्रेम-प्रलाप, देखकर प्रेम-विमोहित काया।
रमणी के विशाल रतनारे नेत्रों में जल आया।
जोड़ कंज-कर देख एकटक प्राणेश्वर के मुख को।
बोली अतिशय कठिनाई से थाम हृदय के सुख को ॥२३॥

हे जीवन की ज्योति! हृदय की शक्ति! आँख के तारे।
हे स्मिति के आधार! प्राण के प्राण! प्रेम सम प्यारे!
हे मेरे मन की तरंग! जीवन के एक सहारा!
सौ सुधांशु लाखों कमलों से मुख है मंजु तुम्हारा ॥२४॥

प्राणिमात्र पर दया, प्रेम की प्रतिमा देख नयन में।
सुन्दरता का समारोह तुमको समझे हूँ मन में।
है मेरे सुहाग की शोभा जिसके भाल रुचिर में।
रखती हूँ नित विश्व-सार यह मूर्ति हृदय-मन्दिर में ॥२५॥

फिर प्रियतम का हाथ पकड़कर बोली हँसकर बाला।
मानो मुख से सुधा छिटकती निकली अच्छर-माला।
तुम तो मेरे अतुल रूप का यश गाया करते थे।
शोभा का लघु संग्रह कहकर सुख पाया करते थे ॥२६॥

कहते थे तुम—कोमलता नीरज की, ज्योति रतन की।
मोहकता शशि की, गु लाब की सुरभि, शांति सज्जन की।
रति का रूप, रंग कंचन का, लेकर स्वाद सुधा का।
विरचा है विधि ने मुख तेरा सुख लेकर वसुधा का ॥२७॥

मेरे मुख को चन्द्र बताकर तुम चकोर बनते थे।
नीर-भरे घन-से मेरे कच देख मोर बनते थे।
आँखों का जीवन कह मुझको सदा देखते रहते।
मेरी बातों को स्वप्राण की साँस तुम्हीं थे कहते ॥२८॥

देख-देख निशि-वासर मेरी नींद-भरी सुन्दरता।
फूले नहीं समाते थे तुम, हे मेरे दुखहर्ता।
मैं समझे थी, पृथ्वी-तल पर केवल हैं हम दो ही।
सो तुम हाय! हो गये ऐसे निठुर और निर्मोही ॥२९॥

मुझे अकेली छोड़ भवन में, आ बिरमे तुम वन में।
प्रियतम ऐसी बात कौन-सी सहसा उपजी मन में?
प्रेम-पयोधि हृदय अस्थिर वारिधि से बढ़कर है।
सच कहती हूँ नाथ! तुम्हारे लिए सदा दुस्तर है ॥३०॥

तव सेवा के लिये हृदय में हैं जो मधुर उमंगें।
क्या उनसे बढ़कर हैं ये खारी जल-जन्य तरंगें?
भ्रू-विलास ही पर हे जड़-लावण्य-रसिक अभिमानी!
देगी वार प्रकृति यह अपनी निखरी हुई जवानी ॥३१॥

प्रकृति-रूप पर उछल पड़ा है मन में प्रेम तुम्हारे।
किन्तु स्वयं वह प्रेम न तुमसे करती है हे प्यारे।
मूक प्रकृति से अतुलनीय शोभा-समूह रख तन में।
दीवानी बन फिरती हूँ मैं प्रेम-मग्न वन-वन में ॥३२॥

मुझ दासी को छोड़ जगत से नाता तोड़ सिधारे।
अगणित अटल प्रतिज्ञाएँ क्यों भूल गयीं हे प्यारे।
यौवन के आरम्भ-काल में जब अस्थिर संसृति में—
हुआ प्रभात प्रेम का पहला उसकी मधुर स्मृति में ॥३३॥

मग्न हुआ क्षण एक, पथिक फिर सस्मित मुख से बोला।
प्रिये! तुम्हीं ने तो पहले यह द्वार प्रेम का खोला।
हृदय खोलकर मधुर प्रेम का अद्भुत रूप दिखाया।
रूप दिखा सौन्दर्य-उपासक तुमने मुझे बनाया ॥३४॥

देख अतुल सौन्दर्य तुम्हारा मुग्ध हुआ मन मेरा।
जिसने तुम्हें रचा वह कैसा होगा चारु चितेरा।
उसे देखने की दृढ़ इच्छा प्रबल हो उठी मन में।
फिरा खोज में रूप-राशि की मैं निशि-दिन वन-वन में ॥३५॥

हुई दया उसकी अब मन से निकल गयी जड़ता है।
जिधर देखता हूँ जल-थल में वही दीख पड़ता है।
होता है सब साथ उसी के सोना, जगना मेरा।
रोना, हँसना और खेलना, निशि-दिन, साँझ-सबेरा ॥३६॥

कमल, कलभ, हरि कुण्ड, लता, गिरि, कम्बु, गुलाब-मुकुल का।
शशि, प्रवाल, दाड़िम, पिक, शुक, मृग, केतु, शुक्ति, अलि कुल का।
परम तुच्छ, जड़ खग-पशु का उपमेय तुम्हारा तन है।
प्रकृति सदा सुन्दरी, तुम्हारा यौवन अस्थिर धन है ॥३७॥

उसके सुख के कीर्ति-कथन में शब्द-रंक है भाषा।
मैं छोड़ूँगा उसे नहीं तुम छोड़ो मेरी आशा।
रमणी हुई परम मर्माहत सुन विरक्ति पति-द्वारा।
बरस पड़ी आँखें पावस के घन-सी भर जलधारा ॥३८॥

कहने लगी—विषम पीड़ा सह प्रभु! तव विरहानल में।
आयी थी मैं आज शरण लेने को सागर-तल में।
यदि यह मूर्ति नाथ! तरणी-सी तट पर दृष्टि न आती।
तो इस विरह-विदग्ध देह से आज मुक्ति मिल जाती ॥३९॥

ममता-रहित पथिक-सा घर तज तुम चुपचाप सिधारे।
पाकर खबर उसी दम मैं भी पीछे चली तुम्हारे।
कहाँ-कहाँ मैं फिरी खोजती कितने गिरि, कानन में।
नदी-तटों पर पागलिनी-सी अंधकार निर्जन में ॥४०॥

हो निराश सब अंग प्राण को रोक-रोक जब हारे।
आज अभागिन के नसीब तुम मिले मृत्यु के द्वारे।
पहले पहल पयोधर देकर जिसके कोमल मुख में।
मग्न हुई अति नव्य अनिर्वचनीय अलौकिक सुख में ॥४१॥

उसी सुमन-संग्रह से शिशु के कसे बाहु-बन्धन को।
खोल निठुरता से धायी थी मैं विरहाकुल वन को।
माँ-माँ कहता हुआ आँख में आँसू भर वह धाया।
हा! वह दृश्य एक पल मुझ से जाता नहीं भुलाया ॥४२॥

गर्मी, वर्षा, शरद, शीत ने इतना घेर सताया।
आँखों के बल पर फिरती है यह अति जर्जर काया।
विकसित हुआ वसन्त, लद गयी नूतन दल से शाखें।
वन शोभा वे लगीं निरखने खोल फूल-सी आँखें ॥४३॥

चुन-चुन फूल गूँथती माला तुम्हें नहीं जब पाती।
करती हुई याद उर पर उसको धरकर सो जाती।
सहसा तव कंठ-ध्वनि-सी सुन श्रवण-सुधा-सिंचती-सी।
उठती चौंक, दौड़ पड़ती द्रुत वन-वन में खिंचती-सी ॥४४॥

मिलते कहीं न, तब ले-लेकर प्रियतम! नाम तुम्हारा।
प्रतिध्वनि करती गिरि-पथ, सर, निर्झर, नदी-किनारा।
अब तुम लौट चलो निज घर को विनय मानकर मेरी।
यदि न चलोगे, फिर न मिलेगी इस तन से यह चेरी ॥४५॥

सुनकर बोला पथिक—प्रिये ! मैंने सब कथन तुम्हारा ।
सुना धैर्य से, पर न रोक तुम सकीं हृदय की धारा ।
यदि तुम मुझे प्यार करती हो कोमल करुण हृदय से ।
करो न मुझको देवि ! दयामयि ! वंचित प्रकृति-प्रणय से ॥४६॥

शारीरिक वासना-तृप्ति का साधन जहाँ प्रणय है ।
जहाँ शब्द-चातुर्य सत्य है, भ्रमोत्पत्ति निर्णय है ।
चलता है तूफान जहाँ हिंसा का हृदय-हृदय में ।
मैत्री में विश्वासघात है, छल है छिपा विनय में ॥४७॥

जहाँ स्वार्थ-वश लोग प्यार करते हैं अन्यायी का ।
होता है नर जहाँ स्वार्थ-वश शत्रु सगे भाई का ।
जहाँ सत्य-भाषण, सनेह, सद्‌गुण के परिदर्शन का—
स्वार्थ हेतु है, भला वहाँ कल्याण कहाँ है जन का ॥४८॥

पुण्य-चरित सज्जन से विषयी कल्मष-मध्य निवासी ।
न्यायी से वंचक, दाता से कृपण विशेष विलासी ।
जहाँ श्रमी से क्रयी-विक्रयी, वेश्या सुखी सती से ।
निर्जन वन है, परम सुखद उस न्याय-रहित जगती से ॥४९॥

चोरी, जारी, छल, प्रपंच, पर-पीड़न, आडम्बर से ।
ओत-प्रोत है जहाँ मनुज का जीवन मद, मत्सर से ।
सर्वनाश की ओर विहँसते हुये बजाकर डंका ।
जहाँ मूढ़ दौड़े जाते हैं फल की तज आशंका ॥५०॥

आर्त्तनाद की जन्म-भूमि वह लीला-क्षेत्र प्रलय का ।
विग्रह का विश्राम भवन है, शासन है संशय का ।
वह संसार अपार पाप का वृहत कारखाना है ।
अतुलित पश्चात्ताप आत्म संघात वहाँ जाना है ॥५१॥

चारों ओर वहाँ पर विस्तृत केवल दुख ही दुख है।
दुख का है वह जाल, दीखता वहाँ क्षणिक जो सुख है।
माया है, मिथ्या, मृगतृष्णा, घोर प्रलोभन, छल है।
वह संसार विषाद, निराशा का बस क्रीड़ा-स्थल है ॥५२॥

यह बबूल-वन सिंधु तीर पर हरी छतरियाँ छाये।
क्षिति पर शीतल छाँह बिछाकर शूल-समूह छिपाये।
थके पथिक को आकर्षित कर देता कष्ट विषम है।
इसी भाँति संसार बड़ा धोखा है, भीषण भ्रम है ॥५३॥

रेणु, स्वर्ण-कण सदृश देखकर तट पर ललचाती हैं।
बड़ी दूर से चलकर लहरें मौज-भरी आती हैं।
चूम-चूम निज देश-चरण वह नाच-नाच गाती हैं।
यह शोभा! यह हर्ष! कहाँ आँखें जग में पाती हैं ॥५४॥

परिमल प्रचुर समेट पार कर केलों की हरियाली।
सुनकर तार, खजूर, नारियल से स्वागत की ताली।
शीतल मन्द पवन आता है जहाँ प्रतिक्षण प्यारी।
ताप तप्त जग कहाँ यहाँ से बढ़कर है सुखकारी ॥५५॥

जाना नहीं चाहता हूँ मैं क्षणभर को भी जग में।
चलता रहूँ, यही इच्छा है सदा प्रेम के मग में।
यह इच्छा है नदी और नालों का वेश धरूँगा।
गाता हुआ गीत मस्ती से पर्वत से उतरूँगा ॥५६॥

यह इच्छा है, बन सुगन्ध फूलों के बीच बसूँगा।
बनकर विरह-बाण प्रेमी के उर में धाय धसूँगा।
यह इच्छा है कुंज-कुंज में वायु बना विचरूँगा।
कुम्हलाये पौधों में फिर से चेतनता वितरूँगा ॥५७॥

गुल को हँसा, रुला बुलबुल को, छेड़ लता-मण्डल को।
फिर सबको नहला दूँगा मैं घेर-घेर बादल को।
होकर साँस विश्व की वाणी प्रेम-प्रसंग कहूँगा।
शुद्ध रसिक-मण्डल में मैं बनकर संगीत रहूँगा ॥५८॥

शान्त स्वर्ग-सुख छोड़ कहाँ संसार-नरक में जाऊँ?
हीरा-सा जीवन ले क्यों कौड़ी के मोल बिकाऊँ?
यह कह चला गया निर्मोही पथिक प्रेम मतवाला।
रही देखती ठगी, बिकी, चित्रित-सी व्याकुल बाला ॥५९॥



दूसरा सर्ग

मध्य निशा, निर्मल निरभ्र नभ, दिशा विशा विराव-विहीना।
विलसित था अम्बर के उर पर अद्भुत एक नगीना।
उसकी विशद प्रभा सर-निर्झर, तृण, लतिका द्रुम-दल-में।
करती थी विश्राम, परम अभिराम निशीथ-कमल में ॥१॥

या अनन्त के वातायन से स्वर्गिक विपुल विमलता।
झलक रही थी धरा-धाम को थी धो रही धवलता।
सुख की निद्रा में निमग्न था एक-एक तृण वन का।
था बस सुखद सुशीतल सन्-सन् मन्द प्रवाह पवन का ॥२॥

या निर्भय कर्तव्य-परायण वीर प्रभावित स्वर से।
सिंधु-संतरी गरज रहा था अगणित उर्मि-अधर से।
चंचल वीचि मरीचि-वसन से सजकर नीले तन को।
होड़ लगी-सी उछल रही थी चारु चन्द्र-चुम्बन को ॥३॥

बैठ जलधि तीरस्थ शिला पर पथिक प्रेम-व्रत-धारी।
देख रहा था छटा चन्द्र की चित्त-विमोहनहारी।
उसी समय अति मधुर पद-ध्वनि बहुत समीप किसी की।
सुनकर पथिक प्रतीक्षक की श्रुति लगी [illegible] उसी ही की ॥४॥

कुश-मेखला विशुद्ध अजिन कौपीन कसे कृश कटि से ।
आये वहाँ तपोधन सत्तम एक साधु मृदु गति से ।
भस्मावृत निर्धूम अग्नि-सा श्मश्रु-युक्त मुख उनका ।
द्योतक था महान् महिमामय तप, विराग, सद्गुन का ।।५।।

या मुख के सब ओर झलकती विशद प्रभा थी उर की ।
या सद्वृत्ति-प्रभाव से मिटी थी श्यामता चिकुर की ।
मुनि को देख प्रणाम किया फिर परम प्रफुल्लित मन से ।
कहा पथिक ने—धन्य हुआ मैं आज पुण्य-दर्शन से ।।६।।

इस नीरव, निस्तब्ध निशा में, छाया में हिमकर की ।
छटा देखता हुआ चन्द्रिकासिक्त नील सागर की ।
उर में धर तव दर्शन की उत्सुकतामय अभिलाषा ।
बैठा हूँ, अब हुई फलवती आतुर आकुल आशा ।।७।।

प्रकृति-प्रसन्न साधु ने हँसकर कहा—पुत्र हे प्यारे ।
बड़े मधुर हैं प्रेम-सद्म से निकले वाक्य तुम्हारे ।
सुखी रहो, निःस्वार्थ प्रेम की जग में ज्योति जगाओ ।
भ्रम में भूले-भटके भव को सुख की राह लगाओ ।।८।।

प्रातःकाल सिन्धु में जागृत थीं जब तुंग तरंगें ।
सत्पुरुषों में यथा लोक-सेवा की उच्च उमंगें ।
सैकत तट पर मुग्ध खड़े तुम शोभा देख प्रकृति की ।
जाग्रत थे जब दिव्य दशा में अखिल विश्व-विस्मृति की ।।९।।

कुछ दूरी पर मैं भी सुनता था प्रभात की बानी ।
वही तुम्हारे उच्च हृदय की मैंने महिमा जानी ।
मैंने सुना विवाद तुम्हारा गृहिणी के सँग सारा ।
देखा मार्ग-मर्म में निश्चित हुआ विफल तुम्हारा ।।१०।।

जब तुम चले हरित-पथ पर उस कुसुमित सुरभित वन में।
तुमसे कुछ बातें करने की इच्छा उपजी मन में।
जल्दी चल तुमसे मिल मैंने निश्चय किया समय का।
बहुत दिनों पर मिला आज यह अवसर सुख-संचय का ॥११॥

कष्ट दिया मैंने जो तुमको उसे न मन में लाना।
आओ बैठो, सुनो, तुम्हें है कुछ रहस्य बतलाना।
एक शिला पर बैठ गये मुनि परम विरक्त विरागी।
बैठ गया सामने पथिक भी अनुरागी गृह-त्यागी ॥१२॥

सुनने को अति नम्र भाव से स्थिर हो उत्सुक मन से।
पथिक देखने लगा साधु को श्रद्धा-सिक्त नयन से।
बोले मुनि—हे पुत्र! जगत् को तुमने त्याग दिया है।
प्रेम-स्वाद चख, मोहित हो, वन में विश्राम लिया है ॥१३॥

मृगमाला-विहरित कल-कोकिल-कूजित कुसुमित वन को।
ललित लहलही लता लसित अलि-मुखरित कुंज-भवन को।
तृण-संकुलित हरित वसुमति गिरि लहर उदधि नभ घन को।
देख हुआ कौतूहल, अति आश्चर्य तुम्हारे मन को ॥१४॥

देख जिन्हें निस्पन्द हुए हो त्याग कर्म-संगर को।
हुए तुम्हारे लिए कभी स्थिर वे भी क्या पलभर को?
अपनी अद्भुत शक्ति भूल अज्ञानी-सा वन-वन में।
फिरते हो तुम चकित विमोहित प्रकृति-रूप-दर्शन में ॥१५॥

जग में सचर अचर जितने हैं सारे कर्म-निरत हैं।
धुन है एक न एक सभी को सबके निश्चित व्रत हैं।
जीवन भर आतप सह वसुधा पर छाया करता है।
तुच्छ पत्र की भी स्वकर्म में कैसी तत्परता है ॥१६॥

सिन्धु-विहंग तरंग पंख को फड़काकर प्रति क्षण में।
है निमग्न नित भूमि-अण्ड के सेवन में रक्षण में।
कोमल मलय पवन घर-घर में सुरभि बाँट आता है।
शस्य सींचने घन जीवन धारण कर नित जाता है ॥१७॥

रवि जग में शोभा सरसाता सोम सुधा बरसाता।
सब हैं लगे कर्म में कोई निष्क्रिय दृष्टि न आता।
है उद्देश्य नितान्त तुच्छ तृण के भी लघु जीवन का।
उसी पूर्ति में वह करता है अन्त कर्ममय तन का ॥१८॥

तुम मनुष्य हो, अमित बुद्धि-बल विलसित जन्म तुम्हारा।
क्या उद्देश्य-रहित है जग में तुमने कभी विचारा?
बुरा न मानो, एक बार सोचो तुम अपने मन में।
क्या कर्त्तव्य समाप्त कर लिया तुमने निज जीवन में ॥१९॥

जिसपर गिरकर उदर-दरी से तुमने जन्म लिया है।
जिसका खाकर अन्न, सुधा-सम नीर समीर पिया है।
जिसपर खड़े हुए, खेले, घर बना बसे, सुख पाये।
जिसका रूप विलोक तुम्हारे दृग, मन, प्राण जुड़ाये ॥२०॥

वह सनेह की मूर्ति दयामयि माता-तुल्य मही है।
उसके प्रति कर्त्तव्य तुम्हारा क्या कुछ शेष नहीं है?
हाथ पकड़कर प्रथम जिन्होंने चलना तुम्हें सिखाया।
भाषा सिखा हृदय का अद्भुत रूप-स्वरूप दिखाया ॥२१॥

जिनकी कठिन कमाई का फल खाकर बड़े हुए हो।
दीर्घ देह ले बाधाओं में निर्भय खड़े हुए हो।
जिनके पैदा किये, बुने वस्त्रों से देह ढके हो।
आतप-वर्षा शीत-काल में पीड़ित हो न सके हो ॥२२॥

क्या उनका उपकार-भार तुमपर लवलेश नहीं है ?
उनके प्रति कर्त्तव्य तुम्हारा क्या कुछ शेष नहीं है।
सतत ज्वलित दुख-दावानल में जग के दारुन रन में।
छोड़ उन्हें कायर बनकर तुम भाग बसे निर्जन में ॥२३॥

केवल सुनकर कष्ट तुम्हारा विचलित हुआ हृदय है।
मनुष्यता के लिए घोर लज्जा अति निन्द्य विषय है।
शुद्ध प्रेम के मर्म प्रेम की महिमा से परिचित हो।
प्रेम मार्ग के पथिक, प्रेम-पीड़ा से व्याकुल-चित हो ॥२४॥

तुम्हें उचित था, तुम उदार बनकर घर-घर में जाते।
अमित प्रेम-निधि एक-एक प्राणी को मुफ्त लुटाते।
किन्तु कृपण बन सब समेट सानन्द स्वयं रहते हो।
इसपर भी तुम स्वार्थ-ग्रसित कुत्सित जग को कहते हो ॥२५॥

केवल अपने लिए सोचते मौज भरे गाते हो।
पीते खाते, सोते जगते, हँसते, सुख पाते हो।
जग से दूर स्वार्थ-साधन ही सतत तुम्हारा यश है।
सोचो तुम्हीं, कौन अग जग में तुम सा स्वार्थ-विवश है ॥२६॥

सद्गुण, साहस, सत्य, शूरता, लोकोत्तर उत्तमता।
पौरुष, प्रतिभा, प्रीति, प्राण, प्रभुता पर पालन-क्षमता।
क्षमा, शान्ति, करुणा, उदारता, श्रद्धा, भक्ति, विनयता।
सज्जनता, शुचिता, मनस्विता, मेधा, मन-निर्भयता ॥२७॥

यह सम्पत्ति धरोहर प्रभु की तुम्हें मिली धरने को।
अवसर पर प्रस्तुत रख जग-हित में वितरण करने को।
सो तुम सकल चुराकर जग से भाग बसे निर्जन में।
प्रभु से यह विश्वासघात करते न डरे तुम मन में ॥२८॥

त्राहि-त्राहि सब ओर मची थी जहाँ प्राणि-मण्डल में ।
आँखों ने देखी क्या हित की अनुपस्थिति उस थल में ?
सदुपदेश से सफल हुई क्या भाषण-शक्ति तुम्हारी ?
दयावान कर सकी किसी निष्ठुर को भक्ति तुम्हारी ।।२९।।

आवश्यकता की पुकार को श्रुति ने श्रवण किया है ?
कहो, करों ने आगे बढ़ किसको साहाय्य दिया है ?
आर्त्तनाद तक कभी पदों ने क्या तुमको पहुँचाया ?
क्या नैराश्य-निमग्न जनों को तुमने कंठ लगाया ? ।।३०।।

कभी उदर ने भूखे जन को प्रस्तुत भोजन पानी—
देकर मुदित भूख के सुख की क्या महिमा है जानी ?
मार्ग-पतित असहाय किसी मानव का भार उठा के ।
पीठ पवित्र हुई क्या सुख से उसे सदन पहुँचा के ? ।।३१।।

मस्तक ऊँचा हुआ तुम्हारा कभी जाति-गौरव से ?
अगर नहीं, तो देह तुम्हारी तुच्छ अधम है शव से ?
भीतर भरा अनन्त विभव है उसकी कर अवहेला ।
बाहर सुख के लिए अपरिमित तुमने संकट झेला ।।३२।।

जिसे प्रेम से बहुत समीप सहज ही पा सकते थे ।
अन्धे-सा उसको टटोलते अब तक तुम थकते थे ।
तुममें अद्भुत शक्ति अलौकिक अतिशय अधिक प्रकृति से ।
कर सकते हो चकित प्रकृति को निज साधारण कृति से ।।३३।।

यदि तुम अपनी अमित शक्ति को समझ काम में लाते ।
अनुपम चमत्कार अपना ही देख परम सुख पाते ।
यदि उद्दीप्त हृदय में सच्चे सुख की है अभिलाषा ।
वन में नहीं जगत में जाकर करो प्राप्ति की आशा ।।३४।।

यह संसार मनुष्य के लिए एक परीक्षा-स्थल है।
दुख है प्रश्न कठोर, देखकर होता बुद्धि विकल है।
किन्तु स्वात्म-बल-विज्ञ सत्पुरुष ठीक पहुँच अटकल से।
हल करते हैं प्रश्न सहज में अविरल मेधा बल से ॥३५॥

यही लोक-कल्याण-कामना, यही लोक-सेवा है।
यही अमर करनेवाले यश-सुरतरु का मेवा है।
जाओ पुत्र ! जगत में जाओ, व्यर्थ न समय गँवाओ।
सदा लोक-कल्याण-निरत हो जीवन सफल बनाओ ॥३६॥

दुख में बन्धु, वैद्य पीड़ा में, साथी घोर विपद में।
दुसह दीनता में आश्रय, उत्साह निराशा-नद में।
भ्रम में ज्योति, सुमति सम्पति में, दृढ़ निश्चय संशय में।
छल में क्रांति, न्याय प्रभुता में, अटल धैर्य बन भय में ॥३७॥

जनता के विश्वास, कर्म, मन, ध्यान, श्रवण, भाषण में।
वास करो, आदर्श बनो, विजयी हो जीवन-रण में।
अति अशांत दुखपूर्ण विशृङ्खला कांति-उपासक जग में।
रखना अपनी आत्म-शक्तिपर दृढ़ निश्चय प्रति पग में ॥३८॥

जग की विषम आँधियों के झोंके सम्मुख हो सहना।
स्थिर उद्देश्य-समान और विश्वास-सदृश दृढ़ रहना।
जाग्रत नित रहना उदारता-तुल्य असीम हृदय में।
अन्धकार में शान्त चन्द्र-सा, ध्रुव-सा निश्चय भय में ॥३९॥

तुम्हें स्मरण करके उदार, संयमी, सच्चरित जन हों।
पर-दुख देख दूर करने को उत्सुकतामय मन हों।
जनता सुनकर नाम तुम्हारा एक भाव में जागे।
सत्य, न्याय के संरक्षण में मुदित प्राण तक त्यागे ॥४०॥

जग में सुख की प्राप्ति के लिए एक सहायक दुख है।
वही जगाता है सद्गुण को, सद्गुण लाता सुख है।
बाधा, विघ्न, विपत्ति, कठिनता जहाँ-जहाँ सुन पाना।
सबके बीच निडर हो जाना दुख को गले लगाना ॥४१॥

गौर-श्याम, उत्तम-जघन्य, कुत्सित-कुरूप-सुन्दर का।
होता नहीं विचार प्रेम के शासन में निज-पर का।
घृणित अछूत अकिंचन जग में जो जन है जितना ही।
तुमसे है वह प्रेम-प्राप्ति का पात्र अधिक उतना ही ॥४२॥

सदा लोक-सौन्दर्य-वृद्धि की कवि-सम चिन्ता करना।
मत दुख-सुख विकार-वश होना प्रतिभा से पद धरना।
जो कहते हो जगत महामाया है, भीषण भ्रम है।
इस विचार में तुमको ही धोखा है, भ्रान्ति विषम है ॥४३॥

जगन्नियन्ता की इच्छा से यह संसार बना है।
उसकी ही क्रीड़ा का रूपक यह समस्त रचना है।
है यह कर्मभूमि जीवों की, यहाँ कर्मच्युत होना।
धोखे में पड़ना, अलभ्य अवसर से है कर धोना ॥४४॥

एक अनन्त शक्ति वसुधा का संचालन करती है।
वह स्वतंत्र इच्छा से लय, उद्भव, पालन करती है।
उसी शक्ति से ग्रह नियमित कक्षा में चकराते हैं।
किन्तु चीरकर महा शून्य को केतु निकल जाते हैं ॥४५॥

उसी शक्ति से सुन्दर घन से सुधा-बिन्दु झड़ता है।
करता हाहाकार वज्र पृथ्वी पर आ पड़ता है।
उसी शक्ति की सुखद प्रेरणा शुद्ध आत्म-सम्मति है।
करो उसी का कर्म उसी की निहित समस्त प्रगति है ॥४६॥

परम विचित्र यन्त्र यह जग है उसी शक्ति से चलता।
मत करना अभिमान मिले जो तुमको कभी सफलता।
यद्यपि सब जग का हित-चिन्तन सबको आवश्यक है।
पर प्रत्येक मनुज पर पहला देश-जाति का हक है ॥४७॥

पैदा कर जिस देश-जाति ने तुमको पाला-पोसा।
किये हुए है वह निज हित का तुमसे बड़ा भरोसा।
उससे होना उऋण प्रथम है सत्कर्त्तव्य तुम्हारा।
फिर दे सकते हो वसुधा को शेष स्वजीवन सारा ॥४८॥

जो कुछ कहना था सब मैंने तुमको कहा खुलासा।
जाता हूँ उत्तर लेने की है न मुझे अभिलाषा।
मैंने भी घर से बाहर हो बड़ा भाग जीवन का।
खोया है निश्चिन्त मूढ़-सा आश्रय ले गिरि, वन का ॥४९॥

प्रभु की एक प्रेरणा से जब समझ पड़ा भ्रम अपना।
हाय! हो चुका था तब तन का बल-विक्रम सब सपना।
निपट शिथिल अंगों के द्वारा सब प्रयत्न निष्फल था।
बचा लोक-सेवा करने को केवल भाषण-बल था ॥५०॥

उसी शक्ति से बोल लोक-हित जो कुछ हो सकता है।
करता हूँ फिरकर जब तक मस्तिष्क नहीं थकता है।
मैं कर चुका समर्पण सब कुछ इच्छा पर ईश्वर की।
ईर्ष्या नहीं निरादर की है, प्रीति नहीं आदर की ॥५१॥

मैंने निज कर्त्तव्य समझ समझाया तुम्हें तुम्हारा।
तुम स्वतंत्र हो, करो, तुम्हें जो लगे हृदय से प्यारा।
कुञ्जी है इस अखिल विश्व की यह मस्तिष्क तुम्हारा।
कर सकते हो प्राप्त सकल ऐश्वर्य इसी के द्वारा ॥५२॥

फिर करता हूँ डरो न दुख से कर्म-मार्ग सम्मुख है।
प्रेम पन्थ है कठिन, यहाँ दुख ही प्रेमी का सुख है।
कर्म तुम्हारा धर्म अटल हो, कर्म तुम्हारी भाषा।
हो सकर्म ही मृत्यु तुम्हारे जीवन की अभिलाषा ॥५३॥

यह कह शान्त-भाव से भूषित साधु सरल मृदु गति से।
वन में हुए विलीन पथिक को वंचित कर संगति से।
छिटक रही थी स्निग्ध चाँदनी, पवन तान भरता था।
ज्योत्स्ना में पत्ते हिलते थे, जल छप्-छप् करता था ॥५४॥

तीसरा सर्ग

कुमुद-बन्धु की मुदित कौमुदी भूपर उतर गगन से।
सोयी थी सिकता-समूह पर परम अचिन्तित मन से।
बैठे हुए शिला पर तन आगे की ओर झुकाये।
पथिक अचेतन अचल एक टक क्षिति पर दृष्टि गड़ाये ।।१।।

था अति विकल निरीह, जुए में मानो सब कुछ हारे।
पता नहीं था उसे छोड़ मुनि कब चुपचाप सिधारे।
मुनि के सच्चे वचन पथिक के प्रेम-विशुद्ध हृदय में।
सपदि हुए अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित अल्प समय में ।।२।।

अनुभव करते हुए हृदय में एक अचिन्तित दुख को।
कुछ क्षण बाद उठाया उसने परम विषादित मुख को।
आँखें विष में बूड़ रही-सी थीं रसहीन सजल हो।
लम्बी एक उसाँस खींचकर बोला पथिक विकल हो ।।३।।

हाय ! परम कर्त्तव्य भूलकर आ विरमा मैं वन में।
इससे बढ़कर और भूल क्या होगी इस जीवन में ?
फिर कर जोड़ कहा उसने—हे अखिल' जगत के स्वामी !

करके दया बना लो अब निज इच्छा का अनुगामी ।।४।।

फिर उसने विस्तृत स्वदेश की ओर दृष्टि निज फेरी।
कहा—अहा? कैसी सुन्दर है जन्मभूमि यह मेरी।
भक्ति, प्रेम, श्रद्धा से उसका तन पुलकित हो आया।
रोम-रोम में सेवा-व्रत का परमानन्द समाया ॥५॥

फिर बोला—हे जन्मभूमि! हे देश प्रेम-धन मेरे।
मैं यह जीवन-पुष्प चढ़ाता हूँ चरणों पर तेरे।
यह कह लगा सोचने मन में कर्म उचित उपयोगी।
जाने बिना निदान, बिना अनुभव, न सफलता होगी ॥६॥

एक बार सम्पूर्ण देश का भ्रमण प्रथम मैं कर लूँ।
सुख-दुख का सब हेतु समझकर ध्येय ध्यान में धर लूँ।
तब मैं करूँ कर्म-पथ निश्चित जो ध्रुव सत्य-विहित हो।
धर्म-नीति के संरक्षण से जीवमात्र का हित हो ॥७॥

अतः निरन्तर एक वर्ष तक दृढ़ निश्चय कर मन में।
लगा रहा वह प्रान्त-प्रान्त में देश-दशा-दर्शन में।
उसने देखा प्रचुर भरा सर्वत्र प्राकृतिक सुख है।
किन्तु देश उससे नितान्त अनभिज्ञ, विरक्त, विमुख है ॥८॥

छूता हुआ गाँव की सीमा अति निर्मल जलवाला।
बहता है अविराम निरन्तर कल-कल स्वर से नाला।
अनतिदूर पर हरियाली से लदी खड़ी गिरि-माल।
किन्तु नहीं इससे हृदयों में है आनन्द-उजाला ॥९॥

कहीं श्याम चट्टान, कहीं दर्पण-सा उज्ज्वल सर है।
कहीं हरे तृण खेत, कहीं गिरि-स्रोत-प्रवाह प्रखर है।
कहीं गगन के खम्भ नारियल तार भार सिर धारे।
रस रसिकों के लिए खड़े ज्यों सुप्त नकार इशारे ॥१०॥

घेर रही है जिसे पल्लवित लता सुगन्धित झाड़ी।
छाया-शयित सघन आच्छादित कुञ्चित पन्थ पहाड़ी।
सर्वोपरि उन्नत मन की-सी लक्षित अचल उँचाई।
एक घड़ी को भी न किसी के लिए हुई सुखदाई ॥११॥

ऊँचे से झरने झरते हैं, शीतल धार धवल है।
यहाँ परम सुख-शान्ति समन्वित नित आनन्द अटल है।
कहीं धार के पास शिला पर बैठ लोग क्षण भर को।
पा सकते हैं शान्ति, मिटा सकते हैं जी के ज्वर को ॥१२॥

बार-बार बक-पंक्ति-गमन से उज्ज्वल फूलोंवाली।
मेघ-पुष्प-वर्षा से धूमिल घटा क्षितिज पर काली।
लहराती दृग की सीमा तक धानों की हरियाली।
वारिज-नयन-गगन-छवि-दर्शक सर की छटा निराली ॥१३॥

कदली-वन से हरी धरा को देख न आँख अघाती।
क्यों यह नहीं गाँववालों के जी की जलन मिटाती।
गेहूँ, चने, मटर, जौ के हैं खेत खड़े लहराते।
क्या कारण है जो ये मन का कुछ न विषाद मिटाते ॥१४॥

निम्ब, कदम्ब, अम्ब, इमली की श्याम निरातप छाया।
सेवन कर फिर लोक-शोक की याद न रखती काया।
बैठ बाग की विशद मेंड़ पर कोमल अमल पवन में।
आँख मूँद करता किसान है श्रम का अनुभव मन में ॥१५॥

कोकिल का आलाप, पपीहे की विरहाकुल बानी।
तोता-मैना का विवाद, बुलबुल की प्रेम-कहानी।
मधुर प्रेम के गीत तरुणियाँ गातीं खेत निरातीं।
क्या ये क्षण भर को न किसी के मन का कष्ट भुलातीं ? ॥१६॥

विमलोदक पुष्कर में विकसे चित्र-विचित्र कुसुम हैं।
खड़े चतुर्दिक् शांत-भाव से लतिकालिङ्गित द्रुम हैं।
देख सलिल-दर्पण में शोभा वे फूले न समाते।
दे प्रसून उपहार सरोवर को निज हर्ष जनाते ॥१७॥

सुन्दर सर है, लहर मनोरथ-सी उठकर मिट जाती।
तट पर है कदम्ब की विस्तृत छाया सुखद सुहाती।
लटक रहे हैं धवल सुगन्धित कन्दुक-से फल फूले।
गूँज रहे हैं अलि पीकर मकरन्द मोद में भूले ॥१८॥

वंजुल मंजुल सदा सुसज्जित मज्जित छदन-विसर से।
अलिकुल आकुल बकुल मुकुल संकुल व्याकुल नभचर से।
आसपास का पथ सुरभित है महक रही फुलवारी।
बिछी फूल की सेज, बज रही वीणा है सुखकारी ॥१९॥

नालों का संयोग, साँझ का समय, घना जङ्गल है।
ऊँचे-नीचे खोह कगारे निर्जन बीहड़ थल है।
रह-रहकर सौरभ समीर में हैं वन पुष्प उड़ाते।
ताप-तप्त जन यहाँ न क्यों आकर क्षण एक जुड़ाते ॥२०॥

सन्ध्या समय चतुर्दिक से वह हर्ष-निनाद सुनाते।
विविध रूप-रङ्गों से पक्षी झुण्ड-झुण्ड हैं आते।
बैठ पल्लवों पर सब मिलकर गान मनोहर गाते।
अद्‌भुत वाद्य-यन्त्र पादप को हैं प्रति दिवस बनाते ॥२१॥

प्रातःकाल ममत्वहीन वे कहाँ-कहाँ उड़ जाते।
जग को हैं अनित्य मेले का रोचक पाठ पढ़ाते।
यह सब देख नहीं क्यों मन में उत्तम भाव समाते?
लोग वहाँ पर बैठ घड़ी-भर क्यों न सीख कुछ जाते ॥२२॥

अति निस्तब्ध निशीथ तमावृत मौन प्रकृति-कुल सारा।
शान्त गगन में झिलमिल करते हैं नित नीरव तारा।
निद्रित दिशा, समीर-सुकोमल, उदयोन्मुख हिमकर है।
क्या सब शोक भुलाने का यह नहीं एक अवसर है ?॥२३॥

चारों ओर तुषार-धवल पर्वत चुपचाप खड़ा है।
प्रकृति-मुकुर-सा एक सरोवर उसके मध्य जड़ा है।
तट पर एक शिला सुन्दर है, बैठ यहाँ यदि जाते—
तो क्या एक घड़ी न किसी के दृग, मन-प्राण जुड़ाते ?॥२४॥

लीची, श्रीफल, सेब, आम, बादाम, दाख, बेदाना।
रस से भरे विविध मेवों की रुचि आकृति है नाना।
सब प्रभु की अद्भुत रचना का दृश्य विचित्र दिखाते।
दिव्य अयाचित दया प्राप्त कर क्यों न लोग सुख पाते ॥२५॥

गिरि, मैदान, नगर निर्जन में एक भाव में मातीं।
सरल कुटिल अति तरल मृदुल गति से बहु रूप दिखातीं।
अस्थिर समय समान प्रवाहित ये नदियाँ कुछ गातीं।
चलीं कहाँ से, कहाँ जा रहीं, क्यों आयीं, क्यों जातीं ॥२६॥

इन्हें देख कर क्यों न लोग आश्चर्य प्रकट करते हैं ?
इनके दर्शन से निज मन का कष्ट क्यों न हरते हैं ?
जहाँ लता-तृण में हैं केवल फोग प्रतिष्ठा पाते।
टीबे ही टीबे बालू के जहाँ दृष्टि में आते ॥२७॥

मधुर मतीरे जहाँ कलेजे की हैं तपन मिटाते।
गाधि-पुत्र की याद जहाँ हैं ऊँट भरूँट दिलाते।
मृग-तृष्णा के दृश्य जहाँ पर नित्य देख पड़ते हैं।
इने-गिने सावन-भादों में वारि-बुन्द झड़ते हैं ॥२८॥

कोमल पथ है, दिशा शान्त है, वायु स्वच्छ सुखकर है।
गान भ्रूण का, नृत्य मोर का, दृश्य बड़ा सुन्दर है।
ऐसी विविध विलक्षणता से सजा प्रकृति का तन है।
होते क्यों न देखकर इनको हर्ष-विमोहित जन हैं? ।।२६।।

पंकज, रम्भा, मदन, मल्लिका, पोस्त, गुलाब-मुकुल का।
रक्तक, कुन्द-कली, पिक, किंशुक, नरगिस, मधुकर-कुल का।
संग्रह है चम्पक, शिरीष का धर्म-सुरभिमयी नारी।
मानो फूल रही है सुन्दर घर-घर में फुलवारी ।।३०।।

क्यों न लोग उसके दर्शन से क्षण भर दुख बिसराते?
क्यों सब प्रकृत मनोरञ्जन से इतनी अरुचि दिखाते?
एक-एक तृण बतलाता है जगदीश्वर की सत्ता।
व्यापक है लघु से लघु में भी उसकी विपुल महत्ता ।।३१।।

अब विश्वास रहा क्या उसकी महिमा पर न किसी को।
भूल गये अपने से पहले क्या, सब लोग उसी को।
एक मधुर संगीत हो रहा है ब्रह्मांड-भवन में।
उसकी ही ध्वनि गूँज रही हैं अणु, परमाणु, गगन में ।।३२।।

ग्रह-गण एक नियत कक्षा में फिरकर स्वर भरते हैं।
सदा उसी के पूर्ति-हेतु वे प्रणव-गान करते हैं।
आँधी का आवेग, मेघ की गरज, चमक बिजली की।
पत्तों की सुमधुर, मर्मर-ध्वनि, हँसी प्रसून-कली की ।।३३।।

सरिता का चुपचाप सरकना, दहन स्वभाव अनल का।
झरने का अविराम नाद, कलकल रव चंचल जल का।
मधुरालाप, प्रलाप, विपुल आघोष क्षुब्ध वारिधि का।
भिन्न भिन्न भाषा [illegible] बहुविधि का ।।३४।।

खग, पशु, कीट, पतंग आदि के बोल विभिन्न समय के।
हैं सब मन्द्र तार स्वर उसके ताल सहायक लय के।
वज्रपात है थाप उसी की, ऋतुएँ हैं गति उसकी।
जीवन है वह अखिल विश्व का महाप्रलय यति उसकी ॥३५॥

कैसा सुख-संगीत शान्तिप्रद उज्ज्वल अमल विमल है।
उसका सुनना ही मनुष्य-जीवन का लक्ष्य अटल है।
साधु-संयमी उसे श्रवण कर भवसागर तरते हैं।
योगी-जन सुनकर उसको अमरत्व प्राप्त करते हैं ॥३६॥

किन्तु देश के लोग किसी निद्रा में ज्यों सोते हैं।
किसी विनोद प्रमोद में नहीं वे तत्पर होते हैं।
किसी असीम विषाद उदधि में हैं निमग्न जन सारे।
या हैं किसी व्याधि से पीड़ित उदासीन मन मारे ॥३७॥

या कोई चिन्ता निगूढ़ उनपर अधिकार जमाये।
या वे हैं अनिवार्य किसी रचना में ध्यान लगाये।
देख मानसिक ह्रास देश में उदासीनता छायी।
अन्तर्पीड़ा समझ प्रजा की उसको करुणा आयी ॥३८॥

उसने बाहर से स्वदेश को अति विषादमय पाया।
सब भीतर की दशा देखने वह समाज में आया।
जब उसने सर्वत्र दुखों के भीषण दृश्य विलोके।
उसका हृदय विदीर्ण हो गया, आँसू रुके न रोके ॥३९॥

धधक रही सब ओर भूख की ज्वाला है घर-घर में।
मांस नहीं है, निरी साँस है शेष अस्थि-पंजर में।
अन्न नहीं है, वस्त्र नहीं है, रहने का न ठिकाना।
कोई नहीं किसी का साथी, अपना और बिगाना ॥४०॥

लाखों नहीं, करोड़ों ऐसे हैं मनुष्य दुख पाते।
जीवन भर जो जठरानल में जल-जलकर मर जाते।
हाय, हाय कर लोग साँझ को निराहार सो जाते।
एक बार भी रात-दिवस में पेट नहीं भर पाते ॥४१॥

खाते हैं गम और आँसुओं ही से प्यास बुझाते।
लेकर आयु विविध रोगों की हैं दिन-रात बिताते।
फटे-पुराने चिथड़ों ही से ढके किसी विधि तन हैं।
कैसे सियें, सुई तागे से भी नितान्त निर्धन हैं ॥४२॥

बड़े सबेरे से सन्ध्या तक करके कठिन मजूरी।
सुख के बदले में पाते हैं आयु मजूर अधूरी।
चिन्तित हैं, आश्चर्य-चकित हैं, कृषक विकल हैं दुख से।
कौन काढ़ लेता है उनका कौर अचानक मुख से ॥४३॥

शासक-दल असहाय प्रजा को घोर कष्ट देता है।
रक्षक से भक्षक बनता है सरबस हर लेता है।
अटल दीनता का चंगुल है, साथी कौन किधर है?
हरदम सिर पर मौत खड़ी है, ओठों पर ईश्वर है ॥४४॥

त्राहि-त्राहि सब ओर मची है व्याकुल हैं नर-नारी।
वे न सँभाल भार सकते हैं लघु जीवन का भारी।
घोर दीनता ही के कारण सद्गुण रहा न उनमें।
बढ़ती ही जाती प्रवृत्ति है नित उनकी दुर्गुण में ॥४५॥

झूठ, दम्भ, विश्वासघात, छल से परधन हरते हैं।
कोई भी अनीति करने में लोग नहीं डरते हैं।
सद्गुण जो मनुष्य जीवन की उन्नति का साधक है।
उसकी ही उन्नति को अब तो पेट हुआ बाधक है ॥४६॥

सत्य, धैर्य, विश्वास, सुजनता, पौरुष, सद्‌गुण सारे।
पैसे-पैसे पर बिकते हैं कुटिल नीति के मारे।
नये-नये अभियोग अमूलक नित चलते रहते हैं।
निरपराध अन्याय-दण्ड नित ही सज्जन सहते हैं ॥४७॥

समझ लिया तत्काल पथिक ने कारण इस दुर्गति का।
है सिद्धान्त प्रजा की उन्नति के प्रतिकूल नृपति का।
राजकार्य-संचालनार्थ ही कुछ शिक्षा प्रचलित है।
कठिन व्याधि है विसुध प्रजा का अधःपतन निश्चित है॥४८॥

प्रजा नितांत चरित्रहीन हो, शक्ति जाय मिट मन की।
शिक्षा का उद्देश्य यही है, नीति यही शासन की।
चरितहीन डरपोक अशिक्षित प्रजा अधीन रहेगी।
है यह भाव निरंकुश नृप का 'सदा अनीति सहेगी' ॥४९॥

शिक्षा और सुशासन के उस विषम मरुस्थल में भी।
हैं कुछ विकसित सुमन किसी विधि जीवित निर्जल में भी।
देश-प्रेम से पूरण प्लावित उनका उच्च हृदय है।
देश-जाति-हित के सम्मुख उनको न मृत्यु का भय है ॥५०॥

वे नृप का भय छोड़ प्रजा का पक्ष ग्रहण करते हैं।
दीन-हीन, भय-त्रस्त प्रजा में अभय भाव भरते हैं।
पर वे जो विधि दुख-निवृत्ति की हैं अमोघ बतलाते।
यदि उसके अनुसार कर्म भी कुछ करके दिखलाते ॥५१॥

तो दुख का सुख, कालकूट का अमृत रूप बन जाता।
सौ वर्षों का भी भविष्य खिंच एक दिवस में आता।
ऐसे वक्ताओं के साथी कुछ ऐसे भी जन हैं।
स्वार्थ-वासना से अति प्रेरित जिनके कलुषित मन हैं ॥५२॥

देश-प्रेम ऐसे पवित्र स्वर्गीय कार्य—साधन को।
बना लिया व्यापार परम आराध्य मानकर धन को।
त्रस्त भूप से मान-दान पाने की अभिलाषा से।
कई प्रजा के हैं हितेच्छु निज उन्नति की आशा से ।।५३।।

कुछ हैं 'वाह-वाह' के प्रेमी; निर्भय गाल बजाते।
हुल्लड़ का हुरदंग मचाते जी की जलन मिटाते।
बहुत हितू भी कभी-कभी हैं हानि बड़ी पहुँचाते।
एक विपत्ति-निवारण में हैं विविध विघ्न बन जाते ।।५४।।

आन्दोलित अनेक लहरों से भ्रमित, न एक सहारा।
पा सकती स्वदेश की नौका नहीं अभीष्ट किनारा।
शोचनीय यह दशा देखकर निश्चित तत्पर मन से।
उद्यत हुआ देश-सेवा में पथिक अपूर्व लगन से ।।५५।।

दीनों की कर याद तजा उसने शारीरिक सुख को।
समझा कभी नहीं यह दुख है, किसी भाँति के दुख को।
मोटा वस्त्र सहर्ष पहनता, सदा भूमि पर सोता।
निराहार प्रायः रहकर भी वह न कर्मच्युत होता ।।५६।।

वह उस समय समस्त देश में अद्वितीय निर्धन था।
यद्यपि जग से बढ़कर उसका मूल्यवान जीवन था।
उसे किसी से घृणा न थी वह द्वेषी था न किसी का।
प्रेम-मूर्ति, आनन्द-रूप वह भूषण था पृथ्वी का ।।५७।।

लघु से लघु मनुष्य का भी वह सेवक कहलाता था।
आते ही उसके समीप सब कष्ट बिसर जाता था।
सेवा करने को समाज की जो अवसर वह पाता।

आलस-वश उसको क्षणभर भी निष्फल था न गँवाता ।।५८।।

उसने घूम-घूमकर घर-घर सब की विविध व्यथाएँ ।
देखीं, संग्रह कीं सतर्क हो अगणित कष्ट-कथाएँ ।
क्रोधित शासन की जोंकों ने विघ्न निरन्तर डाले ।
पर उसके अदम्य साहस ने सब दुख संकट टाले ।।५६।।

देख पथिक का अटल धैर्य अविचल बल कष्ट-सहन में ।
अत्याचारों से अति पीड़ित त्रस्त प्रजा के मन में ।
हुई निविड़ तम में प्रभात-बेला-सी जाग्रत आशा ।
देख पुण्य का उदय हुई बलवती उच्च अभिलाषा ।।६०।।

अर्पण किया पथिक को जनता ने तन-मन-धन सारा ।
निस्सहाय डूबते हुओं को मानो मिला सहारा ।
आशा का आधार एक ही केन्द्र समस्त हृदय का ।
अभिमत फल-सा प्रकट प्रजा के पारस्परिक विनय का ।।६१।।

पथिक परम आराध्य हो गया सुर-सम हृदय-हृदय में ।
दुख में बन्धु, मित्र विपदा में, साथी बनकर भय में ।
एक दिवस वह राजसभा में गया समीप नृपति के ।
सत्य-सत्य सब हेतु बताकर जनता की दुर्गति के ।।६२।।

नृप को उसने तत्व नीति का राज-धर्म समझाया ।
सुनकर हुई निरंकुश नृप की क्रोध-विकम्पित काया ।
बोला--सुन रे पथिक ! भला तू नीति-तत्व क्या जाने ?
आया है तू यहाँ भूप को राज-धर्म समझाने ! ।।६३।।

बहकाकर तू मूढ़ प्रजा को स्वार्थ सिद्ध करता है ।
ईश्वर के प्रतिनिधि महीप से नेक नहीं डरता है ।
प्रजा सुखी सानन्द शान्त है, कष्ट-रूप बस तू है ।
क्या होगा उपकार प्रजा का चिन्तक बना नित तू है ।।६४।।

जा चुपचाप न देख अभागे! राजधर्म तू मेरा।
करके नृप से बैर अमङ्गल होगा निश्चय तेरा।
तू है व्याधि प्रजा की, मैंने ठीक-ठीक पहचाना।
मेरा है कर्त्तव्य, प्रजा के सिर से तुझे हटाना ॥६५॥

मैं हूँ भूप, प्रजा का सब है धाम धरा धन मेरा।
राजकाज में कुछ कहने का है अधिकार न तेरा।
देख असम्भव शासक-द्वारा कुछ सुधार शासन में।
विफल हुआ उपदेश, पथिक के चिंता उपजी मन में ॥६६॥

जो स्वदेश के लिये अनल में सुख से जल सकता है।
वह निंदा-स्तुति, राज-रोष से पथ न विचल सकता है।
कई बार मिलकर महीप को उसने फिर समझाया।
पर न पथिक का सदुपदेश उसको अभाग्य-वश भाया ॥६७॥

नहीं मिटा जब कष्ट प्रजा का सब प्रयत्न कर हारा।
तब उसने निज इष्ट-सिद्धि का अंतिम लिया सहारा।
प्रान्त-प्रान्त प्रत्येक गाँव, घर-घर प्रत्येक हृदय में।
एक भावना भर दी निरलस फिरकर अल्प समय में ॥६८॥

उसने कहा—सुनो हे मेरे प्यारे देश निवासी!
छायी है जो आज तुम्हारे घर में घोर उदासी।
तुम मनुष्य होकर भी पशु से बढ़कर दुख पाते हो।
दिन-दिन धन से हीन, चरित से दीन हुए जाते हो ॥६९॥

इसका क्या कारण है तुमने कभी हृदय में सोचा?
किस बल से जनता का जीवन है जा रहा दबोचा?
सोचो तो क्या निज जीवन के स्वयं नहीं तुम दुख हो?
क्या तुम सब स्वतंत्र-शासन के सुख से नहीं विमुख हो ॥७०॥

एक व्यक्ति निर्दयी निरंकुश बन बैठा अधिकारी।
शासन है कर रहा तुम्हीं पर लेकर शक्ति तुम्हारी।
अत्याचार स्वयं अपने ही ऊपर तुम करते हो।
अपने ही हाथों अपने को मार-मार मरते हो ॥७१॥

तुम अपने सुख के प्रबन्ध के हो न पूर्ण अधिकारी।
यह मनुष्यता पर कलंक है हे प्रिय बन्धु! तुम्हारी।
पराधीन रह कर अपना सुख शोक न कह सकता है।
यह अपमान जगत में केवल पशु ही सह सकता है ॥७२॥

बल के बिना बुद्धि का कौशल कायरता है, छल है।
पशुता, निर्दयता, विमूढ़ता, बिना बुद्धि के बल है।
नृप में बुद्धि नहीं, बस बल है, सो भी सकल तुम्हारा।
तुम हो अपने दुख, दुर्गति का अपने आप सहारा ॥७३॥

दुखदायी शासन से अपनी सारी शक्ति हटा लो।
निज सुख-दुख का अपने ऊपर सारा भार सँभालो।
अपना शासन आप करो तुम यही शान्ति है, सुख है।
पराधीनता से बढ़ जग में नहीं दूसरा दुख है ॥७४॥

एक घड़ी की परवशता भी कोटि नरक के सम है।
पल भर की स्वतंत्रता सौ स्वर्गों से भी उत्तम है।
जब तक जग में मान तुम्हारा तब तक जीवन धारो।
जब तक जीवन है शरीर में तब तक धर्म न हारो ॥७५॥

जब तक धर्म तभी तक सुख है, सुख में धर्म न भूलो।
कर्म भूमि में न्याय मार्ग पर छाया बन कर फूलो।
जहाँ स्वतंत्र विचार न बदले मन से आकर मुख में।
बनें न बाधक शक्तिमान जन जहाँ निबल के सुख में ॥७६॥

निज उन्नति का जहाँ सभी जन को समान अवसर हो।
शान्तिदायिनी निशा और आनन्द-भरा वासर हो।
उसी सुखी स्वाधीन देश में मित्रो! जीवन धारो।
अपने चारु चरित से जग में प्राप्त करो फल चारो ॥७७॥



चौथा सर्ग

मार्ग बुहार-बुहार थकी मैं प्रतिदिन साँझ सवेरे।
हार गयी मैं बाट जोहती आये नाथ न मेरे।
कोई आकर प्रियतम का कुछ संदेशा कह जाता।
जाते हुए प्राण से आग्रह आँखों का रह जाता ॥१॥

घायल-सी मैं तड़प रही हूँ किसको व्यथा सुनाऊँ।
किससे पूछूँ कहूँ संदेशा पाती कहाँ पठाऊँ?
हाय! बटोही भी अब कोई इधर नहीं आते हैं।
देख दूर से मुझ दुखिया का घर फिरकर जाते हैं ॥२॥

रही उडीक द्वार पर मै हूँ अन्त घड़ी जीवन की।
पूर्ण करो हे नाथ! शेष है एक साध दर्शन की।
एक बार आओ आँखों में मूँद तुम्हें मैं लूँगी।
देखूँगी मैं फिर न और को तुम्हें न दिखने दूँगी ॥३॥

खिड़की से रहती हूँ दिन-भर पथ पर आँख बिछाये।
प्राणाधार! नहीं तुम आये, हा! अन्तिम दिन आये।
सपने में तुम नित आते हो मैं हूँ अति सुख पाती।

मिलने को उठती हूँ सौतिन आँख प्रथम उठ आती ॥४॥

असहनीय उस समय हृदय में विरह--वेदना होती।
सोकर खोती है दुनिया, मैं हाय ! जागकर खोती।
आते पास आँख लगते ही खुलते ही छिप जाते।
भूल-भुलैया खेल नाथ ! क्यों हाय ! मुझे तरसाते ।।५।।

देता है सूचना पपीहा, हवा किवाड़ बजाती।
तुमको आया समझ द्वार पर तुरत दौड़ मैं जाती।
किन्तु विकल हो हाय ! हृदय को थाम लौट आती हूँ।
यों ही अगणित बार रात-दिन मैं धोखा खाती हूँ ।।६।।

जब से हे प्राणेश ! हृदय में सुधि आ बसी तुम्हारी।
मुझे छोड़कर कहाँ गयी तबसे मेरी सुधि सारी।
भागीं छोड़ विरह-विपदा में सुख की सखी-सहेली।
मतलब की दुनिया है देखो, मैं रह गई अकेली ।।७।।

भूख-प्यास फिर पास न आयी मेरी देख उदासी।
पड़ी कहीं पर सोती होगी नींद आलसिन दासी।
काग ! साध अब पूरी कर लो चुन-चुनकर इस तन को।
देना छोड़ दया करके प्रिय-दर्शन-व्रती नयन को ।।८।।

धोकर नभ-नीलिमा उदित अन्तर में लता-निकर के।
पथिक-दृष्टि के आकर्षक हिमकर का दर्शन करके—
शान्त हुई मैं निशिभर शशि पर निश्चल दृष्टि रखूँगी।
प्रिय के दृष्टि-स्पर्श-जनित सुख का मैं स्वाद चखूँगी ।।९।।

हे भगवान् ! घास मैं होती, प्रिय उसपर पग धरते।
अति कृतज्ञ होती, प्रिय-पद की धूलि मुझे तुम करते।
प्राणों का आराम वही आनन्द वही है मन का।
आत्मा की है शान्ति, वही जीवन है इस जीवन का ।।१०।।

ईर्ष्यावान दुरात्म-हृदय सा जेठ लगा अब जलने।
अगम धूलि-धूसरित दिशाएँ ज्वाला लगीं उगलने।
हवा हो गई प्राण-हारिणी हुए जल-स्थल ताते।
मेरे पथिक सघन छाया में होंगे कहीं जुड़ाते ॥११॥

रिमझिम बरस रहे सावन-घन उमड़-उमड़ अलबेले।
तरु-तल कहीं भीगते होंगे मेरे पथिक अकेले।
'घर पर जाओ, पथिक मिलेंगे' यह आज्ञा मुनिवर की।
मान मुदित हो स्वयं बन्दिनी हुई हाय! इस घर की ॥१२॥

उन्मादिनी विरहणी यों ही नित प्रलाप करती थी।
रोती कभी, कभी हँसती थी, कभी आह भरती थी।
नाम-मात्र थी देह त्वचावृत निरा अस्थि-पंजर था।
शक्तिहीन निर्बल नितान्त तन विरह-व्याधि का घर था ॥१३॥

सिन्धु तीर पर प्रिय दर्शन के बाद कई वत्सर से।
आशा ही में रही विरहिणी हटी न पल-भर घर से।
कढ़ती थी प्रत्येक साँस उसकी प्रिय-नाम-कथन को।
जाती थी वह एक बार अन्तिम प्रिय के दर्शन को ॥१४॥

एक दिवस कुछ लोग अचानक वहाँ भाग्य-वश आये।
एक कुएँ पर ठहर गये वे प्यासे थके-थकाये।
कुछ ग्रामीण उपस्थित जन से वे विषाद निज मन का।
कहने लगे वृत्त व्याकुल हो न्याय-रहित शासन का ॥१५॥

हम सब के सौभाग्य, हृदय-सर्वस्व, सत्य व्रतधारी।
इस कराल अन्याय-समर में रक्षक भुजा हमारी।
पूज्य पिता-सम सर्व देश में, हमें प्राण-सम प्यारे।
पकड़े गये राज-आज्ञा से नेता पथिक हमारे ॥१६॥

अन्यायी नृप ने उनके वध का आदेश दिया है।
उसने अपनी विवश प्रजा पर वज्र-प्रहार किया है।
हम सबके हित की चिन्ता कर प्यारे पथिक हमारे।
हमें छोड़कर निराधार कल होंगे जग से न्यारे ॥१७॥

भाग्यहीन जाते हम हैं उनके अन्तिम दर्शन को।
तुम सब भी आओ पवित्र कर लो निज मन-लोचन को।
यह कह रोते सिसक-सिसक वे गये अतीव दुखारी।
कष्ट-कथा सुन चिहुँक पड़े, रो उठे सकल नर-नारी ॥१८॥

धीरे-धीरे वृत्त ग्राम-जनता ने जब सुन पाया।
सबके मन में पथिक-मिलन का वह उद्वेग समाया।
तब ग्रामीण-स्वभाव युवा बालक, बूढ़े, नर-नारी।
व्याकुल अलग-अलग उठ धाये, सह न सके दुख भारी ॥१९॥

पथिक-प्रिया ने यह विषादमय समाचार जब पाया।
रोम-रोम उसके उठ आये, हर्ष न हृदय समाया।
तृषित नीर को, लहर तीर के लिए विकल हो जैसे।
राजपुरी के लिए मार्ग पर चली विरहिणी वैसे ॥२०॥

लिये पुत्र को साथ निकट जा पहुँची राजमहल के।
पथ पर चारों ओर कड़े पहरे थे सैनिक-दल के।
किन्तु प्रजा स्वच्छन्द ाव से निर्भय विचर रही थी।
रोक-टोक आने-जाने की पथ पर कहीं नहीं थी ॥२१॥

थे चाहते महीप प्रजा अधिकाधिक संख्यक आये।
दृश्य राज-विद्रोह दमन का देख भीरु बन जाये।
जिससे फिर कोई भविष्य में सिर न विरुद्ध उठाये।
मेरा दृढ़ आतंक प्रजा पर भली भाँति छा जाये ॥२२॥

नृप की एक निठुर आज्ञा से सूचित थी सब सेना।
"प्रजा करे यदि छेड़छाड़ तो 'कत्ले आम' कर देना।
लौह-शृंङ्खला-बद्ध पथिक बन्दी-मन्दिर के आगे—
बैठा था, सामने खड़े थे लोग असंख्य अभागे ॥२३॥

सस्मित बदन, शान्तिमय आकृति, गौरवपूर्ण नयन से।
मरने को तैयार पथिक था निर्भय निश्चित मन से।
विष से भरा कटोरा उसके धरा हुआ सम्मुख था।
सिर पर खड़ी मृत्यु थी, पर उसका न म्लान मन-मुख था ॥२४॥

बालक, युवा, वृद्ध, नर-नारी सब विह्वल रोते थे।
दृश्य देख करुणा की पीड़ा से अधीर होते थे।
इतने ही में भीड़ चीरकर वायु-वेग से आके।
पथिक-प्रिया ने शीघ्र पी लिया विष का पात्र उठाके ॥२५॥

हाहाकार कर उठी जनता उपजी हलचल भारी।
चकित देखने लगे एकटक चुप अवाक् नर-नारी।
पथिक-प्रिया ने पथिक-चरण की रज ले शीश चढ़ा के।
श्रद्धा, भक्ति, प्रेममय आँखों से विलोक सुख पाके ॥२६॥

कहा—प्राणधन ! प्राणेश्वर ! हे दिव्य ज्योति जीवन की।
मेरी आज कामना सारी सफल हो गयी मन की।
बड़े भाग्य से यह शुभ अवसर आज अचानक आया।
इस अनन्त सुख की सुधि करती आज तजूँगी काया ॥२७॥

कुछ सेवा कर सकी नहीं, मैं हूँ अति निन्द्य अभागी।
भूल क्षमा करना मेरी, हे प्रकृति-भक्त गृह-त्यागी !
इतना ही कह सकी, गिर पड़ी विष-प्रभाव से नारी।
मुख देखती सप्रेम पथिक को स्वर्ग सहर्ष सिधारी ॥२८॥

रहा देखता अचल दृष्टि कर पथिक शान्त दृढ़ मन से ।
सुन अन्तिम विनोद जल की दो बूँदें गिरी नयन से ।
'करो दिव्य दर्शन माता का' सहसा यह उस क्षण में—
सुना गया, सब ओर मच गयी हलचल दर्शक-गण में ।।२९।।

लगे देखने पथिक-प्रिया का आत्म-त्याग अति प्यारा ।
लोगों की अविराम बह चली आँखों से जल-धारा ।
बार-बार दृग पोंछ रही थीं ललनाएँ आँचल से ।
आँचल भी मानों रोते थे भींग-भींग दृगजल से ।।३०।।

पथिक-पुत्र भी खड़ा वहीं था पीछे आकर माँ के ।
सरल प्रकृति अनभिज्ञ पिता से भीड़ देख घबरा के ।
कहने लगा—सो गयी क्यों तू माँ ! उठ चल अब घर को ।
मुझे लगी है भूख, अकेला जाऊँ कहाँ किधर को ? ।।३१।।

माँ ! तू कुछ न खिलाती मुझको, कभी न दूध पिलाती ।
सारे दिन रोती रहती है, खेल न कभी खिलाती ।
बालक की भोली बातें सुन सबका जी भर आया ।
बार-बार करुणा का सागर हृदयों में लहराया ।।३२।।

देख रहे थे लोग चकित मुख से न वचन कढ़ता था ।
सीने का उद्वेग कण्ठ में बार-बार बढ़ता था ।
जननी एक न थाम सकी जब उमड़े हुए हृदय को ।
आगे बढ़ी निरादृत करके निर्दय नृप के भय को ।।३३।।

शिशु-स्नेह से विह्वल उसने उठा लिया बालक को ।
बार-बार वह लगी चूमने उसके मुख-मस्तक को ।
अद्‌भुत एक अपूर्व प्रेम की घटना विस्मयकारी ।
देख रहे थे नृप, अवाक्, अनिमेष, विमुग्ध नर-नारी ।।३४।।

उसी समय उद्दण्ड उग्र उत्सुक उद्धतपन धरके।
अति अभद्रता निष्ठुरता से पथ-प्रचालन करके।
नृप का दूत राज-आज्ञा ले सपदि वहाँ पर आया।
ऊँचे स्वर से हुक्म निरंकुश उसने बाँच सुनाया ॥३५॥

"राजा और राज-शासन से घृणा प्रकट करने का।
राजभक्त सन्तुष्ट प्रजा में उग्र भाव भरने का।
लड़ने को उद्यत करने का ईश्वर के प्रतिनिधि से।
अपराधी है पथिक, क्षमा के है अयोग्य सब विधि से ॥३६॥

फिर भी प्रजा समझ राजा ने यह उदारता की थी।
अपराधों से बहुत स्वल्प ही सजा मौत की दी थी।
इतने पर भी दयामूर्ति भूपति की दया निहारो।
उनकी थी आज्ञा कि क्रूरता से न पथिक को मारो ॥३७॥

विष देकर इस दुष्ट पथिक पामर का जीवन हर लो।
पापी का परिणाम देखकर अब तुम लोग सुधर लो।
इसकी भार्या भी इस शठ से बड़ी घृणा थी रखती।
इसके पाप-कृत्य से लज्जित होकर सदा बिलखती ॥३८॥

पति की देख कुचाल भला वह क्या सुख पाती जीके।
सह न सकी अपवाद, मर गयी पतिव्रता विष पीके।
नृपति दुखित हैं, किन्तु मृत्यु का कारण यही अधम है।
इस कारण से नृप के उर में उपजा क्रोध विषम है" ॥३९॥

नृप ने हुक्म दिया है—"इसके अंग अलग कर तन से।
तड़पा-तड़पाकर इस खल को रहित करो जीवन से।
और पथिक स्वीकार दोष कर यदि हो क्षमा-भिखारी।
तो न वंश निर्मूल करेंगे न्याय-दण्ड-कर-धारी ॥४०॥

यदि अपराध दुराग्रह से यह अस्वीकार करेगा।
तो यह इसका पुत्र खड्ग के घाट अभी उतरेगा।
आग बुझाकर चिनगारी को तृण में दाब जिलाना।
साँप मार कर दया सँपोले पर कर दूध पिलाना ॥४१॥

अरि का कर विध्वंस वंश का रक्षण नादानी है।
उन्मूलन करना अशान्ति का मूल बुद्धिमानी है।"
यह कह दूत कुपित नेत्रों से लगा पथिक को लखने।
दर्शक-गण भीषण आज्ञा सुन फिर-फिर लगे बिलखने॥४२॥

क्रोध,शोक से रहित पथिक दृढ़,निर्भय,अविचल मन से ॥
करने लगा पवित्र गगन को अपने सत्य वचन से।
"राजा प्रजा किसी का मैंने कभी न अनहित चाहा।
सबकी कर कल्याण-कामना निज कर्त्तव्य निबाहा ॥४३॥

आत्मा है साक्षी, न मुझे वह अपराधी कहता है।
क्षमा-याचना का फिर कोई हेतु नहीं रहता है।"
यह सुनते ही राजदूत खल लगा क्रोध से जलने।
दाँत पीसकर, नेत्र लाल कर, ज्वाला लगा उगलने ॥४४॥

पास खड़े बधिकों से बोला—"बकने दो पामर को।
जनता की सुख-शांति के लिए रुको न अब पलभर को।
लो सिर काट पथिक-सुत का तुम", एक बधिक सुन धाया।
लड़के का धर हाथ निठुर ने भू पर पटक गिराया ॥४५॥

हा ! हा ! करते रहे लोग सब किन्तु बधिक ने कर में।
ले कराल करवाल बाल की हत्या की पलभर में।
कोमल-हृदया दयामूर्ति देवियाँ गिरीं मूर्छित हो।

सिहर उठे नर क्रूर कर्म यह देख व्यथाकुल चित हो ॥४६॥

अचल दृष्टि से लगे देखने खड़े परस्पर मुख को।
लोग हुए कर्त्तव्य-ज्ञान से शून्य देख उस दुख को।
यह अन्याय असह्य हो उठा वीर युवक मंडल में।
वे आगे बढ़ चले, मच गयी हलचल मानव-दल में ।।४७।।

'मारो इन हत्यारों को' सब बोले ऊँचे स्वर में।
युवकों से तत्काल घिर गये दूत बधिक क्षण भर में।
प्रतिहिंसा का भाव भयानक जागा हृदय-हृदय में।
दिशा काँपने लगी, बढ़ा कोलाहल अल्प समय में ।।४८।।

"मूलोच्छेद करो अविवेकी निर्दय दुखदायी का।
पृथ्वी से यह पाप उठा दो शासन अन्यायी का"।
युवकों को आवेशपूर्ण क्रोधांध दशा में पाके।
लौह-शृंखला-बद्ध पथिक उठकर निज हाथ उठाके ।।४९।।

कहने लगा—"सुनो हे भाई! क्षणभर शक्ति सँभालो।
क्रोध-विवश अन्याय स्वयं अपराध न तुम कर डालो।
निरपराध हैं दूत बधिक ये राजाज्ञा पालन में।
इनके लिए क्रोध हो सकता है विमूढ़ के मन में ।।५०।।

आज्ञा-पालन ही इनका कर्त्तव्य धर्म-रक्षण है।
गुण का करो मान, दुर्गुण का ग्रहण अशुभ लक्षण है।
सकुशल अक्षत इन्हें यहाँ से शीघ्र निकल जाने दो।
इनके लिए क्रोध का कारण मन में मत आने दो ।।५१।।

मेरे दुख के लिए किसी की करो न मित्र! बुराई।
स्वयं हेतु हूँ मैं अपने सुख संकट का हे भाई!
मेरा अपराधी इस जग में कोई नहीं कहीं है।
प्रतिहिंसा का मेरे मन में कुछ भी भाव नहीं है ।।५२।।

मेरा पुत्र अंश था मेरा, आज काम वह आया ।
बना प्रमाण सत्य का मेरे, सफल हो गयी काया ।
मेरे देह-त्याग से यदि भय मिटे भूप के मन का ।
इससे बढ़ क्या हो सकता है सदुपयोग इस तन का ॥५३॥

बना रहा अब तक मैं निज कर्त्तव्य-कर्म का चेरा ।
कहो हुआ एहसान कौन-सा किसी व्यक्ति पर मेरा ।
मैंने जो कुछ किया उसे मत स्वार्थ समझ अपनाओ ।
मूल्यहीन मेरे कर्मों को मित्रो ! तुम न बनाओ ॥५४॥

यह प्रत्येक देशवासी का सत्कर्त्तव्य अटल है ।
करे देश-सेवा में अर्पण उसमें जितना बल है ।
किन्तु न बदले में जनता से मान-सुभीता चाहे ।
स्वार्थ-भाव को छोड़ उसे है उचित स्वधर्म निबाहे ॥५५॥

कौड़ी से यदि वह बदलेगा निज असूल्य मणि-माला ।
उससे बढ़कर जग में होगा कौन मूढ़ मतवाला ?
रक्तपात करना पशुता है, कायरता है मन की ।
अरि को वश करना चरित्र से शोभा है सज्जन की ॥५६॥

भाग्यहीन जब किसी हृदय में क्रोध उदय होता है ।
बढ़ती है पाशविक शक्ति आत्मिक बल क्षय होता है ।
क्रोध, दया सुविचार न्याय का मार्ग भ्रष्ट करता है ।
अपना ही आधार प्रथम वह दुष्ट नष्ट करता है ॥५७॥

क्रोध तुम्हारा प्रबल शत्रु है बसा तुम्हारे घर में ।
हो सकते हो उसे जीतकर विजयी तुम जगभर में ।
बचो क्रोध, कादर्प, अनय, दुरसाहस, आलस, छल से ।
बनो समर्थ आवेश त्याग से, रक्षित आत्मिक बल से ॥५८॥

पर-पीड़न में विमुख और सम्मुख पर-हितसाधन में।
परनिन्दा में मूक बधिर रहना नित निर्भय मन में।
आत्मा का अपमान न करना सत्य मार्ग पर चलना।
है वह सत्य, तुम्हें न उचित है सत से कभी विचलना ॥५९॥

यह मेरा सन्देश देश में सबको स्पष्ट सुनाना।
अन्तिम अब अनुरोध एक है, इसको भूल न जाना।
आज यहाँ का दृश्य देख जो पैदा हुई उदासी।
उसका बदला लें न किसी से मेरे देश-निवासी" ॥६०॥

परिचित साधु प्रगल्भ पथिक के झट आगे आकर के।
कहने लगे विमुग्ध प्रेम के बूँद दृगों में भर के।
"धन्य पवित्र चरित्र तुम्हारा ! पुत्र ! धन्य जीवन है।
धन्य आत्मबल ! धन्य सत्यव्रत ! धन्य प्रेम का पन है ॥६१॥

बेटा ! तुमने जन्म ग्रहण कर उज्ज्वल किया जगत को।
किया सजीव जाति को तुमने कर प्रत्यक्ष विगत को।
मैंने देश-भ्रमण कर देखा तुम प्रत्येक हृदय में—
साँस-समान विराजमान हो; आशा-तुल्य विनय में ॥६२॥

लेकर नाम पवित्र तुम्हारा देश शीघ्र सुधरेगा।
करके स्मरण चरित्र तुम्हारा शोक-समुद्र तरेगा।
सफल मनोरथ हुआ आज मैं, साध मिट गयी मन की।
आवश्यकता रही न अब इस जरा-जीर्ण जीवन की। ॥६३॥

बेला आ पहुँची चिर-याचित सीकर-सिन्धु-मिलन की।
करता हुआ याद जाता हूँ मन के अन्तिम धन की।
खिले पथिक के नेत्र-कमल मुनि-दिनकर के दर्शन से।
कर प्रणाम कर जोड़ लगा यह कहने उत्सुक मन से ॥६४॥

"परम हर्ष है, पूर्ण हुई यह अन्तिम इच्छा मन की।
बड़ी लालसा थी क्षण-भर को हे मुनि ! तव दर्शन की।
हे गुरुदेव ! तुम्हारी अनुपम दिव्य दया के बल से।
सुखी हुआ मैं जीवन पाकर विलसित अभिमत फल से ॥६५॥

खिले फूल से कहा तुम्हीं ने—किसके लिए विकल है ?
भीतर देख, छिपा तुझमें ही तेरा अभिमत फल है।
तुमने ही हरि से मिलने का मन्त्र पवित्र सिखाया।
हे गुरु ! करके दया तुम्हीं ने सुख का मार्ग दिखाया ॥६६॥

तुम अमोघ उर्वरा-शक्ति हो, मैं नितान्त लघु तृण हूँ।
हे मुनिवर, मैं जन्म-जन्म को तुमसे नहीं उऋण हूँ।
जिसको खोज-खोजकर हारे कितने कानन-वासी।
देख न सके ध्यान में जिसको योगी यती उदासी ॥६७॥

जहाँ मूढ़ अज्ञान-विवश घबराकर अपने कर से।
बुझा रहे थे दीप, अँधेरे में फँसने के डर से।
जहाँ विविध बाधाओं में नर व्याकुल घिरे खड़े थे।
जहाँ भूख से विकल घरों में दीन अचेत पड़े थे ॥६८॥

जहाँ रोग से ग्रसित अपाहिज दुखी दरिद्र भिखारी।
बैठे थे असहाय दशा में निपट अशक्त दुखारी।
जहाँ गरीब किसान खेत में खड़े काम करते थे।
श्रम में चूर मजूर घाम में जहाँ आह भरते थे ॥६९॥

मैंने उसे वहीं भक्तों को सदा खोजते पाया।
दीन-बन्धु का रूप देखकर मैं फूला न समाया।
किन्तु उस समय ढूँढ़ रहे थे भक्त उसे कानन में।
सरिता-तट पर, मेरु-शृङ्ग पर, सुललित लता-भवन में ॥७०॥

अथवा मालों की गुरियों में उसके कीर्ति-कथन में।
या बाजों के कोलाहल में राग-पयोधि-मथन में।
या वेदान्त-विराग-वाद में सज्जित रंगमहल में।
या विनोदवर्द्धक विषयों में रोचक चहल-पहल में ॥७१॥

भला खोज में जब दोनों की इस प्रकार अन्तर है।
मिल सकता कैसे सुखियों को दीन-बन्धु ईश्वर है।
दीनों का दुख दूर नहीं क्या ईश्वर कर सकता है?
कर सकता है,दुख-सुख सब में उसकी व्यापकता है ॥७२॥

वारि-मग्न पल में कर सकता है वह मेरु-शिखर को।
दृष्टि-मात्र से कर सकता है राज-महल खंडहर को।
सर्वशक्ति का केन्द्र, समस्त जगत का संचालक है।
वही दया का स्रोत, प्रेम का प्राण, लोक-पालक है ॥७३॥

फिर क्यों नहीं कष्ट दुखियों का उसने दूर किया है।
करके दया समर्थ जनों को अवसर एक दिया है।
जगह-जगह पर दृश्य दया कर जन-जन के सम्मुख है।
आर्त्तनाद कर बुला रहा जग का हितचिन्तक दुख है ॥७४॥

ईश्वर की प्रेरणा समझ जो मनुष्य वहाँ जाता है।
भाग्यवान सो दीनबन्धु का शुभ दर्शन पाता है।
अवसर यह मनुष्य जीवन को पाकर जिसने खोया।
उसने भ्रम से मनुष्यता का भी अधिकार डुबोया ॥७५॥

मैंने यह रहस्य सब जाना, मिला मुझे वह प्यारा।
हे मुनि! मैं न बिसार सकूँगा यह उपकार तुम्हारा।"
यह कह श्रद्धा, प्रेम-वारि, आनन्द-निमग्न नयन से।
पथिक देखने लगा साधु को भक्ति-विमोहित मन से ॥७६॥

देख रहे थे चकित अकम्पित चित्रित दर्शक सारे।
समाधिस्थ सानन्द स्वर्ग को सत्वर साधु सिधारे।
इसी समय कर हाय ! हाय ! सब लोग विकल हो भागे।
आये कुछ सैनिक-गण लेकर एक वधिक को आगे ।।७७।।

ज्ञानशून्य हो क्रोध और अनुरोध-विवश नर-नारी।
रह न सके उस ठौर खड़े वे सह न सके दुख भारी।
करते हाहाकार कलपते गिरते-पड़ते दुख से।
चले गये उस प्राणघातिनी पीड़ा के सम्मुख से ।।७८।।

शून्य चतुर्दिक, खड़ा सामने काल-स्वरूप वधिक था।
सैनिक थे साश्चर्य देखते, परम प्रसन्न पथिक था।

● ●

नृप ने सुन वध-वृत्त कहा—मिट गई आपदा सारी।
अच्छा हुआ, मर गये चारों पथिक, साधु, सुत, नारी।

पाँचवाँ सर्ग

रहा कौन नर सदा जगत में रंक, भूप, अभिमानी।
ज्ञानी, मूढ़, असाधु, साधु की केवल रही कहानी।
कहाँ गये ? क्या पता ! किसी का कुछ संदेश न आया।
कैसा है वह देश, किसी ने आकर नहीं बताया ॥१॥

पथिक देह तज हुआ उसी अज्ञात देश का वासी।
उस दिन से छा गयी देश में एक विचित्र उदासी।
कोई गहरा मर्म हृदय में लोग लिये रहते थे।
मन-ही-मन अनुभव करते थे किन्तु न कुछ कहते थे ॥२॥

खाते थे, पीते थे, अपना काम सभी करते थे।
किन्तु हृदय की व्यथा बताने में मानो डरते थे।
कुछ भी नहीं किसी के उर में राज-रोष का भय था।
किंतु व्यथा की सुधि कर उनको जीवन का संशय था ॥३॥

दुख से पका हृदय निशि-वासर आश्रित चिंता पर था।
कहीं शब्द से छू न जाय हर घड़ी उन्हें यह डर था।
मिलते कहीं मार्ग में वे कुछ भी न ध्यान देते थे।
केवल दीर्घ साँस ले आँखें नीची कर लेते थे ॥४॥

धनी, दरिद्र, मूढ़, पण्डित का एक हो गया मन था।
अद्भुत एक अवर्णनीय दुख सबका जीवन-धन था।
ऐसी एक विचित्र साधुता उनके चित पर छाई।
उस दिन से कोई न किसी पर क्रोधित पड़ा दिखाई ॥५॥

मान, मोह, शत्रुता, मित्रता, लोभ, स्वार्थ-साधन को—
ईर्ष्या, राग-द्वेष, मद-मत्सर, कोमल परुष वचन को—
भूल गये सब लोग न निज सुधि तक रखते थे मन में।
मिलता था आराम उन्हें एकान्त-शान्ति सेवन में ॥६॥

ऐसी अद्भुत आग सुलगती थी उन सब के मन में।
हास-विलास, वेश-भूषा में रुचि न रही भोजन में।
ऐसी की विरक्ति उन सबसे धारण रहन-सहन में।
मानो कभी न देखी ही थी चहल-पहल जीवन में ॥७॥

वे सब एक अपूर्व शक्ति के पीछे बन परछाईं ॥
परम विरक्त हो गये जग से मन्त्र-मुग्ध की नाईं।
निस्तब्धता घोर नीरवता देख देश में छायी।
डरा काँपने लगा, विकलता-वश राजा अन्यायी ॥८॥

राजा के सब सखा, सभासद, सैनिक भी डरते थे।
मन में एक अपूर्व वेदना का अनुभव करते थे।
आत्मा होने लगी विभासित स्वाभाविक सद्गुन से।
लगे सोचने, जैसे कुछ अपराध हुआ हो उनसे ॥९॥

एक अदृश्य शक्ति उनको थी बार-बार उकसाती।
राजा से विरक्ति उनकी थी दिन-दिन बढ़ती जाती।
थिर गँभीर, चुप, शान्त, न रह सकता है अत्याचारी।
करता रहता है [illegible] की अपने [illegible] ॥१०॥

अपना ही वह अविश्वास सबसे पहले करता है।
औरों के विश्वासघात से मूढ़ व्यर्थ डरता है।
किस कारण से है जनता में उदासीनता छायी।
नृप के मन में ठीक न कोई बात समझ में आयी ॥११॥

कहने लगा—'रहस्य जान लूँगा मैं किसी तरह से।
है हमसे विरुद्ध क्या जनता व्याकुल पथिक-विरह से?
'पथिक' नाम की सुधि आते ही परम क्रोध चढ़ आया।
दृग विस्फारित, नाक प्रश्वसित, हुई प्रकम्पित काया ॥१२॥

अक्षर लगे निकलने मुख से मानो ज्वलित अँगारे—
देखे प्रजा पापिनी क्रोधानल की भमक हमारे।
जनता ने अपमान हमारा किया आज मनमाना।
राज-द्रोही पथिक दुष्ट को हमसे बढ़कर जाना ॥१३॥

सुख-विलास में नहीं सम्मिलित जनता हुई हमारे।
उदासीन बनकर रोती है पथिक-विरह के मारे।
अच्छा, राज-कोप अब देखे प्रजा नितान्त अभागी।
देगी जला जगत को ऐसी ज्वाला उर में जागी ॥१४॥

केवल कर भ्रूबंक कँपा दूँगा मैं नभ-मण्डल को।
पदाघात से आज हिला देता हूँ मैं जल-थल को।
यह कह, की आज्ञा उद्घोषित परम क्रोध के झक में।
'कर दो मटियामेट पथिक के घर को एक पलक में ॥१५॥

उसका कोई चिह्न राज में कहीं न रहे हमारे।
आवें पकड़ हमारे आगे उसके प्रेमिक सारे।
राज-शक्ति का तिरस्कार कर जग में कौन बचेगा?
देखो, आज दुष्ट जनता में क्या कुहराम मचेगा!' ॥१६॥

वस्तु-ज्ञान के लिए परखने चला मूढ़ दृढ़ पण से।
बिछे चतुर्दिक अग्नि-चूर्ण को दुर्मति पावक-कण से।
कुछ विलम्ब से आनेवाली आँधी का दरवाजा।
पहले ही से खोल खड़ा हो गया सामने राजा ॥१७॥

राजा की आज्ञा में सुनकर नाम पथिक का प्यारा।
विकल डूबती हुई प्रजा को मानो मिला सहारा।
उसे अचानक याद आ गया कारण अपने दुख का।
उदय हुआ रवि अंधकार में पथिक-नाम के सुख का ॥१८॥

उतरा नशा, खुल गयी आँखें, मूर्च्छा मन से भागी।
चकित यकायक हुई प्रजा प्रिय पथिक-नाम अनुरागी।
टूटा दुख का बाँध, मार्ग पाकर बह चला हृदय से।
चौंक उठी जनता पीड़ा के हेतु-सहित परिचय से ॥१९॥

आती याद पथिक की अन्तिम दुख से भरी जुदाई।
रो-रो पड़े वियोग-व्यथा से व्याकुल लोग-लुगाई।
रोये वृद्ध—'कहाँ है जीवन का अनमोल सहारा?'
रोकर गिरे अचेत युवक—'है साथी कहाँ हमारा?' ॥२०॥

कलप उठे सब अबल—'हमारा रक्षक मित्र कहाँ है?'
रोये दीन किसान—'हमारा पुण्य पवित्र कहाँ है?'
माताएँ रो उठीं—'कहाँ है मेरा प्रान-पियारा?'
बहनें रोने लगीं—'कहाँ प्रिय भाई गया हमारा ॥२१॥

'पिता-पिता' कह पुत्री, शिशुगण'हँसमुख सखा हमारा।'
रोये बालक, व्यथित—'कहाँ है शिक्षक, पालक प्यारा।'
विकल हुए विद्वान—'खो गया अनुपम रत्न हमारा!'
अपढ़ रो उठे—'भवसागर का कहाँ गया ध्रुवतारा?'॥२२॥

रोये धनी—'कहाँ पथ-दर्शक निस्पृह बन्धु हमारा ?'
लेकर नाम पथिक का प्यारा देश रो उठा सारा।
बहा विषाद आँसुओं के सँग दुख कम हुआ हृदय का।
लगे सोचने—प्रतीकार कैसे हो इस कुसमय का ॥२३॥

वे अन्तिम अनुरोध पथिक का याद प्रेम से करके।
होते थे न क्रोध से आतुर क्षमा धैर्य बल धरके।
अकस्मात् हो उठी प्रेरणा अद्भुत सब के मन में।
'साथ न दो नृप का कोई इसके अधर्म-शासन में' ॥२४॥

राज-कर्मचारी-गण ऐसे हुये विरक्त नृपति से।
तजा उन्होंने एक साथ दासत्व सर्वसम्मति से।
किसी अदृश्य शक्ति से प्रेरित दासी, दास, सिपाही।
नृप की सेवा छोड़ हो गये निज-निज घर के राही ॥२५॥

भूख-प्यास में अन्न और पानी तक देनेवाला।
रहा न कोई व्यक्ति भूप की सुधि तक लेनेवाला।
निर्दय, अत्याचार-विधायक, चाटुकार दरबारी।
भाग गये, कब हुई जगत में अटल स्वार्थ की यारी ॥२६॥

अतुल शक्ति-सम्पन्न प्रजा के मत की कर अवहेला।
किंकर्त्तव्यविमूढ़ महल में नृप रह गया अकेला।
जिसका केवल ध्येय प्रजा का सुखमय प्राण नहीं है।
भाग्यहीन उस नृप का जग में थिर कल्याण नहीं है ॥२७॥

प्रजा-शक्ति ही राज-शक्ति है, प्रजा राज का धन है।
प्रजा-शक्ति से हीन राज का निराधार जीवन है।
नृपति प्रजा का संरक्षक है, नहीं निरंकुश स्वामी।
अपने नहीं प्रजा के सुख का राजा है अनुगामी ॥२८॥

सावधान निःशंक प्रजा ने क्षमा-विभूषित मन से।
राजा को परिवार-सहित कर निर्भय जीवन-धन से।
दिया निकाल देश-सीमा से बाहर बड़े जतन से।
उस बबूल-तरु को उखाड़कर फेंका नन्दन वन से ॥२९॥

शासन का सब भार लिया जनता ने अपने कर में।
परम हर्ष, आनन्द, मोद, सुख व्याप्त हुआ घर-घर में।
सुन्दर सात्विक भाव सभी के लगे हृदय में भरने।
करके याद पथिक-जीवन की लगा चरित्र सुधरने ॥३०॥

जहाँ पथिक, साध्वी, सुत, मुनि ने चिरविश्राम लिया था।
सत्य प्रेम की पूरणता में प्राण सहर्ष दिया था।
उसी जगह पर मुग्ध प्रजा ने सम्मति, सम्पति, श्रम से।
एक वृहत मन्दिर बनवाया, पुलकित प्रेम परम से ॥३१॥

मधुर याद उस दिन की सबका हृदय मधुर करती थी।
जग की विविध वेदनाओं की पीर वही हरती थी।
पथिक उदित था हृदय-हृदय में, थे सब विकल विरह से।
किन्तु परिश्रम किया गया यह आँखों के आग्रह से ॥३२॥

अति आनन्द, अपार प्रेम, उत्साह-सहित हर्षित हो।
हुए वहाँ एकत्र एक दिन नर-नारी पुलकित हो।
पूज्य पथिक की प्रतिमा सबने मन्दिर में पधरायी।
तीनों आत्म-त्यागियों की भी मूर्ति निकट बैठायी ॥३३॥

अनुपम उत्सव एक वहाँ पर उस दिन गया मनाया।
सबने पूज्य पथिक के जीवन को आदर्श बनाया।
किया स्वदेश-प्रेम के व्रत में जीवन अर्पण सारा।

लौटे लेते हुये प्रफुल्लित नाम पथिक का प्यारा ॥३४॥

उसी दिवस प्रतिवर्ष वहाँ स्वर्गीय प्रेम जगता था।
उसी जगह पर एक बड़ा सुन्दर मेला लगता था।
बालक, युवा, वृद्ध, नर-नारी, श्रमजीवी संन्यासी।
होते थे एकत्र वहाँ सब प्रान्तों के अधिवासी ॥३५॥

तत्कालीन सिद्ध कवियों ने सुन्दर पथिक-कहानी।
सुमधुर गीतों में रच की थी कीर्तिमयी निज बानी।
बहुत दूर से कई दिनों में पैदल चल दिन-रात्री।
गाते गीत, मिटाते पथ-श्रम, आते अगणित यात्री ॥३६॥

कोकिल कण्ठ-विनिन्दक स्वर से गीत मनोहर गातीं।
गृह-देवियाँ विभिन्न पथों से वृन्द-वृन्द मिल आतीं।
बाल-वृन्द को कथा पथिक की वृद्ध सहर्ष सुनाते।
चाव भरे युवकों से आगे बिना थके बढ़ जाते ॥३७॥

'पूज्य देश के पिता' नाम से प्रिय सम्बोधन करके।
सब यात्री आनन्द भक्ति, श्रद्धा उर भीतर भरके।
चरणों पर स्वर्गीय पथिक के थे निज शीश नवाते।
आँखों में भर बूँद, प्रेम से देख, परम सुख पाते ॥३८॥

एक विरह की सुधि का मेला चार दिवस रहता था।
चारों ओर पवित्र प्रेम का मधुर स्रोत बहता था।
फिर सब लोग पथिक के गुण को बड़े प्रेम से गाते।
सारी राह विरह में विह्वल निज-निज घर को जाते ॥३९॥

शीत-काल में साँझ के समय नर-नारी सब घर के।
जाते बैठ बीच में जब निर्धूम अंगीठी धर के।
सुनकर कथा पथिक की सुन्दर वृद्ध जनों के मुख से।
हो जाते थे प्रेम-मग्न, आनन्द-विसुध सुख-दुख से ॥४०॥

बालक बार-बार सुनकर भी तृप्ति नहीं पाते थे।
वृद्ध कथा कहते आँखों में आँसू भर लाते थे।
उठ प्रभात में पथिक-प्रिया की कीर्ति मनोहर गातीं।
ललनाएँ गृह-कार्य-निरत निज बाल-समूह जगातीं ॥४१॥

हुए स्वतन्त्र, सुसभ्य, सच्चरित, सच्चे देश निवासी।
घर-घर में सुख-शान्ति छा गयी, रही कहीं न उदासी।
एक शुद्ध सच्चे प्रेमी ने आत्म-शक्ति-साधन से।
मुक्त कर दिया एक देश को नरक-तुल्य शासन से ॥४२॥

शब्दार्थ-कोष

पहला सर्ग

पद्य १—

राग-रथी = राग जिसका रथ है।
रवि-राग = सूर्य की लालिमा।
अविराग = अनुराग।
उदधि = समुद्र।
वीचि-विचुम्बित = लहरों से चुम्बन किये गये।
प्राची = पूर्व।

पद्य २—

स्वच्छन्द = स्वतन्त्र।
समीरण = वायु।
विमर्ष = क्रोध, दुःख।
दृग-तारा = आँख की पुतली।
मंच = नाटक की रंगभूमि।
पट-परिवर्तन = वस्त्र का बदलना, रूप का बदलना।

पद्य ३—

सुषमा = शोभा।

पद्य ४—

कमनीय = सुन्दर।
विस्मय = आश्चर्य।

पद्य ६—

रंक = गरीब।
मरुस्थल = मारवाड़।
तृषित = प्यासे।
विदग्ध = जली हुई।

पद्य ७—

स्नेह = तेल।

पद्य ८—

पाणि = हाथ।
पुष्कर = कमल।
अनिमेष = टकटकी बाँधकर।
मराली = हंसिनी।

पद्य १०—

निकेतन = घर।
निकाई = सुन्दरता।

पद्य ११—

यातना = कष्ट।

पद्य १२—

पारिजात = कल्पवृक्ष।

पद्य १५—

[illegible] = [illegible]।

अभिरामा = सुन्दरी ।
पद्य १६—
रत्नाकर = समुद्र ।
मलयानिल = मलयागिरि की हवा ।
पद्य १७—
जलनिधि = समुद्र ।
दिनकर = सूर्य ।
कान्त = सुन्दर ।
पद्य १६—
तम = अन्धकार ।
अन्तरिक्ष = आकाश ।
सस्मित = मुस्कराता हुआ ।
गगन गंगा = आकाश गंगा ।
पद्य २१—
सानु = पर्वत के ऊपर की समतल भूमि ।
पद्य २३—
सुधांशु = चन्द्रमा ।
मंजु = सुन्दर ।
पद्य २५—
समारोह = संग्रह, समूह ।
पद्य २७ —
नीरज = कमल ।
सुरभि = सुगंध ।
रति = कामदेव की स्त्री ।
विधि = ब्रह्मा ।
पद्य २८—

माला = पंक्ति ।
पद्य ३१—
भ्रू-विलास = भौं चलाना ।
लावण्य = सुन्दरता ।
वार देगी = न्यौछावर कर देगी ।
पद्य ३३ —
संसृति = संसार ।
स्मृति = याद ।
पद्य ३५—
चारु = सुन्दर ।
चितेरा = चित्रकार ।
पद्य ३७—
कलभ = हाथी का बच्चा ।
हरि = सिंह ।
कम्बु = शंख ।
मुकुल = अधखिली कली ।
प्रवाल = मूँगा ।
दाड़िम = अनार ।
पिक = कोकिल ।
शुक = तोता ।
केतु = पताका ।
शुक्ति = सीप ।
अलि = भौंरा ।
पद्य ३६—
तरणी = नौका ।
पद्य ४१ —
नव्य = नया ।

कच = बाल ।

पद्य ३०—

सहसा = यकायक ।

पयोधि = समुद्र ।

पद्य ४४—

द्रुत = जल्दी ।

पद्य ४६—

प्रणय = प्रेम ।

पद्य ४६—

कल्मष = पाप ।

जगती = संसार ।

पद्य ५१—

विग्रह = कलह ।

आत्म-संघात = आत्म-हत्या ।

अनिर्वचनीय = अकथनीय, बयान से बाहर ।

पद्य ४२—

सुमन-संग्रह से = फूलों के समूह ऐसे ।

पद्य ५२—

क्रीड़ास्थल = खेलने की जगह ।

पद्य ५३—

क्षिति = पृथ्वी ।

पद्य ५४—

रेणु = बालू, रेत ।

पद्य ५५—

परिमल = सर्वोत्तम सुगन्ध ।

प्रचुर = अधिक परिणाम में ।

ताप-तप्त = दुःख से जलता हुआ ।

दूसरा सर्ग

पद्य १—

निरभ्र = बादल से रहित ।

विराव = शब्द ।

अम्बर – आकाश ।

निशीथ = अर्द्धरात्रि ।

पद्य २—

अनन्त = आकाश ।

वातायन = खिड़की ।

पद्य ३—

ऊर्मि = लहर ।

वीचि = लहर ।

मेखला = करधनी ।

अजिन = मृग-चर्म ।

कृश = दुर्बल ।

भस्मावृत = राख से लिपटा हुआ ।

श्मश्रु = दाढ़ी-मूँछ ।

पद्य ७—

चिकुर = बाल ।

पद्य ७—

नीरव = शब्द रहित ।

निस्तब्ध = शांत ।

हिमकर = चन्द्रमा ।

मरीचि = किरण ।
होड़ = बाजी ।
पद्य ४—
प्रतीक्षक = मुन्तजिर ।
पद्य—
तुंग = ऊँची ।
मुखरित = गुञ्जार किया हुआ ।
संकुलित = भरी हुई ।
वसुमति = पृथ्वी ।
पद्य १५—
निस्पंद = बिना हिले-डुले ।
संगर = युद्ध ।
पद्य १६—
आतप = धूप ।
पत्र = पत्ता ।
पद्य १७—
विहंग = पक्षी ।
शस्य = अन्न ।
पद्य १८—
सोम = चन्द्रमा ।
निष्क्रिय = बिना काम का ।
नितान्त = बिल्कुल ।
पद्य २०—
उदर दरी = पेट रूपी खोह ।
पद्य २५—
सैकत = रेतीले ।
अखिल = सम्पूर्ण ।

चन्द्रिका-सिक्त = चाँदनी से सींचे हुये ।
पद्य ८—
सद्म = घर ।
पद्य २८—
प्रस्तुत = तैयार ।
वितरण = बाँटना ।
श्रुति = कान ।
पद्य ३२—
अवहेलना = उपेक्षा, तिरस्कार ।
पद्य ३३—
सतत = हमेशा ।
दारुन = कठिन, भयानक ।
पद्य ३४—
उद्दीप्त = प्रकाशित, जाग्रत ।
जघन्य = नीच, घृणित ।
पर = पराया ।
अकिंचन = दीन ।
पद्य ४२—
निधि = खजाना ।
कुत्सित = निन्दित, घृणित ।
पद्य ४५—
उद्भव = उत्पत्ति ।
कक्षा = घेरा, वृत्त ।
केतु = धूम्रकेतु ।
पद्य ४८—
वसुधा = संसार ।

विस्मृत = भूल जाना ।

पद्य २७—

लोकोत्तर = अलौकिक ।

पद्य ५४—

स्निग्ध = कोमल, सरस ।

ज्योत्स्ना = चाँदनी ।

तीसरा सर्ग

पद्य १—

कुमुद-बन्धु = चन्द्रमा ।

मुदित = प्रसन्न ।

कौमुदी = चाँदनी ।

सिकता = रेत, बालू ।

पद्य २—

निरीह = इच्छा-रहित, अचेत ।

सपदि = तत्काल, जल्दी ।

पद्य ६—

निदान = वास्तविक कारण ।

पद्य ७—

ध्रुव = अचल ।

सत्य-विहित = सत्यानुमोदित ।

पद्य ८—

अनभिज्ञ = अनजान ।

द्रुम = वृक्ष ।

प्रसून = फूल ।

पद्य ६—

अनतिदूर = थोड़ी दूर ।

पद्य १२—

समन्वित = युक्त ।

पद्य १३—

मेघ-पुष्प = जल ।

पद्य १६—

निरातप – धूप रहित ।

पद्य १७—

विमलोदक = साफ पानी वाले ।

पुष्कर = तालाब ।

लतिकालिंगित = लताओं से लिपटे हुये ।

पद्य १६—

वंजुल = अशोक वृक्ष ।

मंजुल = सुन्दर ।

मज्जित = स्नान किये हुये ।

छदन = पत्ता ।

विसर = समूह ।

बकुल = मौलसिरी ।

नभचर = पक्षी ।

पद्य २०—

सौरभ = सुगन्ध ।

पद्य २१—

वाद्य = बाजा ।

पादप = वृक्ष ।

पद्य २३—

उदयोन्मुख = उदय होने वाला ।

क्षितिज = वह स्थान, जहाँ पृथ्वी और आकाश मिले दिखाई पड़ते हैं।

वारिज = कमल।

पद्य ५—

कदली = केला।

पद्य २७—

फोग = रेगिस्तान का एक पौधा। मारवाड़ी लोग फोग के भूल का रायता बहुत पसन्द करते हैं।

टीबे = टीले।

कन्दुक = गेंद।

मकरन्द = फूलों का रस।

पद्य २८—

मतीरे = तरबूज।

तपन = गरमी।

गाधिपुत्र = विश्वामित्र।

भरूँट = मारवाड़ का एक कांटेदार पौधा।

पद्य २६—

भूण = गड़ारी।

पद्य ३०—

पंकज = कमल।

रम्भा = केला।

मदन = धतूरा'

पद्य २४—

तुषार = बरफ।

मुकुर = दर्पण।

पद्य २४—

अयाचित = बेमाँगी हुई।

पद्य ३५—

मन्द्र = गम्भीर ध्वनि।

तार = उच्च स्वर।

यति = विराम, ठहरना।

पद्य ३८—

अनिवार्य = जो रोका न जा सके।

पद्य ३६—

विदीर्ण हो गया = फट गया।

पद्य ४१—

जठरानल = पेट की आग।

पद्य ४७—

अमूलक = बेजड़, बेबुनियाद।

पद्य ४८—

अधःपतन = नीचे गिरना, नाश।

पद्य ५०—

प्लावित = भरा हुआ, लबरेज।

पद्य ५१—

त्रस्त = डरी हुई।

अमोघ = निष्फल न होनेवाली।